

नामावर

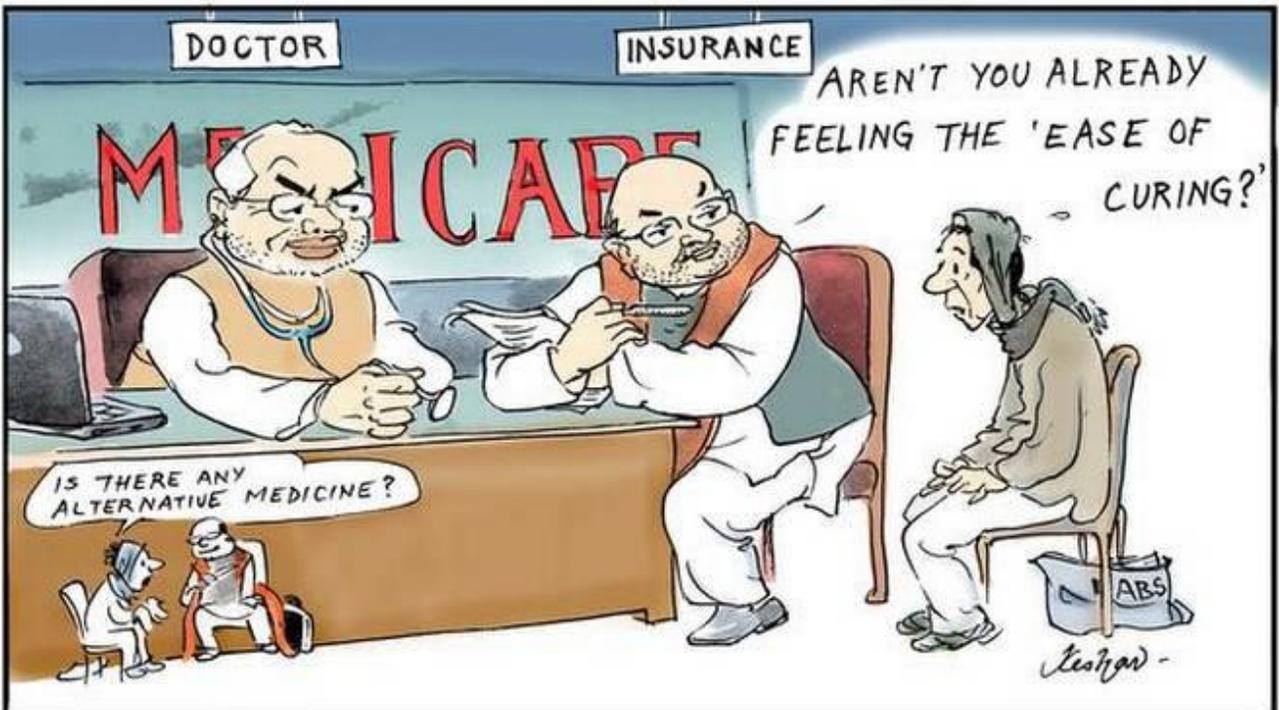
अपनी उनकी सबकी बात

फरवरी 2018

नई दिल्ली

ओमप्रकाश वाल्मीकि पर सुभाष गाताड़े
दीनदयाल उपाध्याय पर नई पुस्तक के कुछ अंश
आइंस्टीन का मशहूर लेख 'समाजवाद क्यों?'
हरिशंकर परसाई के प्रासंगिक व्यंग्य
ज़रूरी समाचार: नगा संधि, ओडिशा में सुरक्षाबलों द्वारा बलात्कार, किसान आंदोलन और प्रेम विवाह पर सुप्रीम कोर्ट

भीमा कोरेगांव पर आनंद तेलतुम्बड़े
कासगंज पर विकास नारायण राय
आनंद पटवर्धन की फिल्मों में मजदूर
बाबा नागार्जुन की कुछ कविताएं



साभार: केशव, द हिंदू

अपनी बात

काफी लंबे समय तक स्थगित रहने के बाद नामाबर का प्रकाशन एक बार फिर से शुरू हो रहा है अलबत्ता अब यह केवल ऑनलाइन उपलब्ध होगी। इस बीच देश में काफी कुछ बदलाव आए हैं। गांव-गांव में हाथ में मोबाइल पहुंच गया है और सस्ते डेटा पैक ने सुदूर कोने में रह रहे लोगों का दुनिया से जुड़ना आसान बना दिया है। इसके फायदे भी हैं और नुकसान भी। फायदा यह है कि अब कोई भी अपनी बात आसानी से कई लोगों तक ऑनलाइन माध्यम से पहुंचा सकता है। मुद्रित अक्षरों की महत्ता अब भी कायम है लेकिन जिनके पास संसाधन नहीं हैं, वे बड़ी कुशलता से चाहें तो ऑनलाइन माध्यमों का प्रयोग कर सकते हैं।

इसका दूसरा और भयावह पक्ष फेक न्यूज़ यानी फर्जी खबरों के रूप में हमें बीते डेढ़ साल के दौरान देखने को मिला है। अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव में पहली बार फेक न्यूज़ की बात सामने आई थी जब पत चला था कि वॉट्सएप जैसे मंचों से फर्जी खबरें फैला कर मतदाताओं को फांसा जा रहा है। बहुत समय नहीं बीता था कि यह प्रवृत्ति अपने देश में भी देखने को मिल गई। नई तकनीक और मीडिया के साये में चीज़ें इतनी तेज़ी से बदली हैं कि वॉट्सएप और फेसबुक जैसे माध्यम से अब दंगे हो रहे हैं, हिंसा की भावना फैलायी जा रही है और नफ़रत का एक संगठित कारोबार सत्ता के संरक्षण में चल रहा है। विडम्बना यह है कि जो देश के कर्ताधर्ता हैं और जिन्हें इस देश के लोगों ने अच्छे दिन के नाम पर चुना था, वे खुद यह विषैला कारोबार चलाने वालों की सरपरस्ती करने में जुटे हुए हैं।

ऐसे में कोई भी वैकल्पिक बात अब केवल मुद्रित माध्यम से लोगों तक पहुंचाना काफी नहीं रह गया है। नए मीडिया के सहारे जब बात को पहुंचाने की सुविधा सबको मिली हुई है, तो वैकल्पिक कामों में लगे लोगों को इसका दोहन करना आना चाहिए। नामाबर के ऑनलाइन प्रकाशन के पीछे एक सोच यह भी है। फरवरी 2018 के इस अंक में समकालीन घटनाक्रम पर कुछ टिप्पणियां हैं, कुछ ज़रूरी रिपोर्टें हैं, समाजवाद की ज़रूरत पर महान वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन का सर्वकालिक लेख है, भारतीय जनता पार्टी के विचारक कहे जाने वाले दीनदयाल उपाध्याय पर हाल में प्रकाशित एक पुस्तक के कुछ अंश हैं जो यह समझने में मदद करेंगे कि आखिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा को एक अदद नायक की तलाश क्यों करनी पड़ रही है और उसके लिए उन्होंने दीदउ को ही क्यों चुना है।

इनके अलावा कुछ सामयिक कविताएं हैं और हरिशंकर परसाई के मारक लघु व्यंग्य भी शामिल हैं। वैकल्पिक सिनेमा में मजदूरों के चरित्र-चित्रण पर एक ज्ञानवर्द्धक लेख भी है। दलित आंदोलन में हाल में आए उभार पर भीमा कोरेगांव की घटना के बहाने आनंद तेलतुम्बड़े का एक विचारोत्तेजक लेख है। हमें उम्मीद है कि नामाबर का यह अंक आपको अपने दौर के बारे में एक समग्र समझदारी कायम करने में मदद करेगा और समकालीन विमर्शों पर संघर्षरत जनता के पक्ष में खड़े होने की सलाहियत देगा।

शुभकामनाओं के साथ

आपकी बात

बाबा नागार्जुन की कविताएँ

आज़ादी के सात दशक में हम कहां पहुंचे हैं, इस पर चर्चा के दौरान अपनी बात कहने के साथ यह ज़रूरी हो जाता है कि हम उस जनतानस को भी टटोलें जो आज जिंदगी के बुनियादी मोर्चों पर पूरी तरह संघर्षरत है। साहित्य हमेशा से जनता की भावनाओं को व्यक्त करने का आसान माध्यम रहा है। बाबा नागार्जुन ने अपने समय में कुछ ऐसी कविताएं लिखी हैं जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक जान पड़ती हैं।

भूल जाओ पुराने सपने

सियासत में
 न अड़ाओ
 अपनी ये काँपती टाँगें
 हाँ, महाज,
 राजनीतिक फतवेवाजी से
 अलग ही रक्खो अपने को
 माला तो है ही तुम्हारे पास
 नाम-वाम जपने को
 भूल जाओ पुराने सपने को
 न रह जाए, तो-
 राजघाट पहुँच जाओ
 बापू की समाधि से जरा दूर
 हरी दूब पर बैठ जाओ
 अपना वो लाल गमछा बिछाकर
 आहिस्ते से गुन-गुनाना :
 "बैस्नो जन तो तेणे कहिए
 जे पीर पराई जाणे रे"
 देखना, 2 अक्टूबर के
 दिनों में उधर मत झाँकना
 -जी, हाँ, महाराज !
 2 अक्टूबर वाले सप्ताह में
 राजघाट भूलकर भी न जाना
 उन दिनों तो वहाँ
 तुम्हारी पिटाई भी हो सकती है
 कुर्ता भी फट सकता है
 हाँ, बाबा, अर्जुन नागा !

मोर न होगा ... उल्लू होंगे
(आपातकाल में लिखी गयी कविता)

खूब तनी हो, खूब अड़ी हो, खूब लड़ी हो
प्रजातंत्र को कौन पूछता, तुम्हीं बड़ी हो

डर के मारे न्यायपालिका काँप गई है
वो बेचारी अगली गति-विधि भाँप गई है
देश बड़ा है, लोकतंत्र है सिक्का खोटा
तुम्हीं बड़ी हो, संविधान है तुम से छोटा

तुम से छोटा राष्ट्र हिन्द का, तुम्हीं बड़ी हो
खूब तनी हो, खूब अड़ी हो, खूब लड़ी हो

गांधी-नेहरू तुम से दोनों हुए उजागर
तुम्हें चाहते सारी दुनिया के नटनागर
रूस तुम्हें ताकत देगा, अमरीका पैसा
तुम्हें पता है, किससे सौदा होगा कैसा

ब्रेज़नेव के सिवा तुम्हारा नहीं सहारा
कौन सहेगा धौंस तुम्हारी, मान तुम्हारा
हल्दी. धनिया, मिर्च, प्याज सब तो लेती हो
याद करो औरों को तुम क्या-क्या देती हो

मौज, मज़ा, तिकड़म, खुदगर्जी, डाह, शरारत
बेईमानी, दगा, झूठ की चली तिजारत
मलका हो तुम ठगों-उचक्कों के गिरोह में
जिद्दी हो, बस, डूबी हो आकण्ठ मोह में

यह कमज़ोरी ही तुमको अब ले डूबेगी
आज नहीं तो कल सारी जनता ऊबेगी
लाभ-लोभ की पुतली हो, छलिया माई हो
मस्तानों की माँ हो, गुण्डों की धाई हो

सुदृढ़ प्रशासन का मतलब है प्रबल पिटाई
सुदृढ़ प्रशासन का मतलब है 'इन्द्रा' माई
बन्दूकें ही हुई आज माध्यम शासन का

गोली ही पर्याय बन गई है राशन का

शिक्षा केन्द्र बनेंगे अब तो फौजी अड्डे
हुकुम चलाएँगे ताशों के तीन तिगड्डे
बेगम होगी, इर्द-गिर्द बस गूल्लू होंगे
मोर न होगा, हंस न होगा, उल्लू होंगे

बाकी बच गया अंडा

पाँच पूत भारतमाता के, दुश्मन था खूँखार
गोली खाकर एक मर गया, बाकी रह गए चार

चार पूत भारतमाता के, चारों चतुर-प्रवीन
देश-निकाला मिला एक को, बाकी रह गए तीन

तीन पूत भारतमाता के, लड़ने लग गए वो
अलग हो गया उधर एक, अब बाकी बच गए दो

दो बेटे भारतमाता के, छोड़ पुरानी टेक
चिपक गया है एक गद्दी से, बाकी बच गया एक

एक पूत भारतमाता का, कन्धे पर है झण्डा
पुलिस पकड कर जेल ले गई, बाकी बच गया अण्डा

हरिशंकर परसाई के लघु व्यंग्य

जनता की भावनाओं को स्वर देने का एक आसान लेकिन मारक माध्यम व्यंग्य है। हरिशंकर परसाई हिंदी के सर्वकालिक महानतम व्यंग्यकारों में हैं जिन्होंने सरल शब्दों में जनता के दुख-दर्द को रखा है। बरसों पहले लिखे गए ये लघु व्यंग्य आज के वक्त हमारे समाज की विडम्बनाओं को सामने लाने का काम करते हैं।

संस्कृति

भूखा आदमी सड़क किनारे कराह रहा था। एक दयालु आदमी रोटी लेकर उसके पास पहुंचा और उसे दे ही रहा था कि एक दूसरे आदमी ने उसको खींच लिया। वह आदमी बड़ा रंगीन था।

पहले आदमी ने पूछा, 'क्यों भाई, भूखे को भोजन क्यों नहीं देते?'

रंगीन आदमी बोला ? ' ठहरो, तुम इस प्रकार उसका हित नहीं कर सकते। तुम केवल उसके तन की भूख समझ पाते हो, मैं उसकी आत्मा की भूख जानता हूं। देखते नहीं हो, मनुष्य-शरीर में पेट नीचे है और हृदय ऊपर। हृदय की अधिक महत्ता है। '

पहला आदमी बोला, 'लेकिन उसका हृदय पेट पर ही टिका हुआ है। अगर पेट में भोजन नहीं गया तो हृदय की टिक-टिक बंद नहीं ही जाएगी। '

रंगीन आदमी हंसा, फिर बोला, 'देखो, मैं बतलाता हूं कि उसकी भूख कैसे बुझेगी। '

यह कहकर वह उस भूखे के सामने बांसुरी बजाने लगा। दूसरे ने पूछा, 'यह तुम क्या कर रहे हो, इससे क्या होगा?'

रंगीन आदमी बोला, 'मैं उसे संस्कृति का राग सुना रहा हूं। तुम्हारी रोटी से तो एक दिन के लिए ही उसकी भूख भागेगी, संस्कृति' के राग से उसकी जनम-जनम की भूख भागेगी। '

वह फिर बांसुरी बजाने लगा।

और तब वह भूखा उठा और बांसुरी झपटकर पास की नाली में फेंक दी।

चंदे का डर

एक छोटी-सी समिति की बैठक बुलाने की योजना चल रही थी। एक सज्जन थे जो समिति के सदस्य थे, पर काम कुछ करते नहीं गड़बड़ पैदा करते थे और कोरी वाहवाही चाहते । वे लंबा भाषण देते थे।

वे समिति की बैठक में नहीं आवें ऐसा कुछ लोग करना चाहते थे, पर वे तो बिना बुलाए पहुंचने वाले थे। फिर यहां तो उनको निमंत्रण भेजा ही जाता, क्योंकि वे सदस्य थे।

एक व्यक्ति बोला, ' एक तरकीब है। सांप मरे न लाठी टूटे। समिति की बैठक की सूचना ' नीचे यह लिख दिया जाए कि बैठक में बाढ़-पीड़ितों के लिए धन-संग्रह भी किया जाएगा। वे इतने उच्चकोटि के कंजूस हैं कि जहां चंदे वगैरह की आशंका होती है, वे नहीं पहुंचते। '

वात्सल्य

एक मोटर से 7-8 साल का एक बच्चा टकरा गया। सिर में चोट आ गई। वह रोने लगा।

आसपास के लोग सिमट आए। सब क्रोधित। मां-बाप भी आ गए। ' पकड़ लो ड्राइवर को। ' भागने न पाए। ' पुकार लगने लगी। लोग मारने पर उतारू। भागता है तो पिटता है। लोगों की आंखों में खून आ गया है।

उसे कुछ सूझा। वह बढ़ा और लहू में सने बच्चे को उठाकर छाती से चिपका लिया। उसे थपथपाकर बोला - ' बेटा! बेटा!'

इधर लोगों का क्रोध गायब हो गया था

मां-बाप कहने लगे. ' कितना भला आदमी है! और होता तो भाग जाता। "

अपना-पराया

आप किस स्कूल में शिक्षक हैं, '

मैं लोकहितकारी विद्यालय में हूं। क्यों कुछ काम है क्या? "

हाँ ' मेरे लड़के को स्कूल में भरती करना है।"

' तो हमारे स्कूल में ही भरती करा दीचिए। '

' पढाई-वढाई कैसी है?

'नंबर वन। बहुत अच्छे शिक्षक हैं. बहुत अच्छा वातावरण है. बहुत अच्छा स्कूल है।'

'तो आपका बच्चा भी वहीं पढ़ता होगा।'

'जी, नहीं, मेरा बच्चा तो आदर्श विद्यालय में पढ़ता है'

नयी धारा

उस दिन एक कहानीकार मिले। कहने ' लगे, ' बिल्कुल नयी कहानी लिखी है, बिल्कुल नयी शैली, नया विचार, नयी धारा। ' हमने कहा ' क्या शीर्षक है? "

वे बोले, ' चांद सितारे अजगर सांप बिच्छू झील। '

दानी

बाढ़ पीड़ितों के लिए चंदा हो रहा था।

कुछ जनसेवकों ने एक संगीत समारोह का आयोजन किया, जिसमें धन एकत्र करने की योजना बनाई। वे पहुंचे एक बड़े सेठ साहब के पास। उनसे कहा, ' देश पर इस समय संकट आया है। लाखों भाई बहन बेघर बार हैं उनके लिए अन्न वस्त्र जुटाने के लिए आपको एक बड़ी रकम देनी चाहिए। आप समारोह में आइएगा। वे बोले - ' भगवान की इच्छा में कौन बाधा डाल सकता है। जब हरि की इच्छा ही है तो हम किसी की क्या सहायता कर सकते हैं?

फिर भैया रोज दो चार तरह का चंदा तो हम देते हैं और व्यापार में दम नहीं है।'

एक जनसेवी ने कहा, 'समारोह में खाद्यमंत्री भी आने वाले हैं ओर वे स्वयं धन एकत्र करेंगे।''

सेठजी के चेहरे पर -चमक आयी' जैसे भक्त के मुख पर भगवान का स्मरण होने पर आती है। वे 'बोले हां, बेचारे तकलीफ में हैं। क्या किया जाए ' हमसे तो जहां तक हो सकता है, मदद करते ही हैं। आखिर हम भी ' देशवासी हैं। आप आए हो तो खाली थोड़े जाने दूंगा। एक हजार दे दूंगा। मंत्रीजी ही लेंगे न? वे ही अपील करेंगे न? उनके ही हाथ में देना होगा न' '

वे बोले, ' जी हां, मंत्रीजी ही रकम लेंगे।

सेठजी बोले, ' बस-बस, तो ठीक है। मैं ठीक वक्त पर आ जाऊंगा। '

समारोह में सेठजी एक हजार रुपए लेकर पहुंचे, पर संयोगवश मंत्रीजी जरा पहले उठकर जरूरी काम से चले गए। वे अपील नहीं कर पाए, चंदा नहीं ले पाए।

संयोजकों ने अपील की। पैसा आने लगा।

सेठजी के पास पहुंचे।

सेठजी बोले. ' हमीं को बुद्धू बनाते हो!

तुमने तो कहा था ? मंत्री खुद लेंगे और वे तो चल दिए। '

सुधार

एक जनहित की संस्था में कुछ सदस्यों ने आवाज उठायी, 'संस्था का काम असंतोषजनक चल रहा है। इसमें बहुत सुधार होना चाहिए।

संस्था बरबाद हो रही है। इसे डूबने से बचाना चाहिए। इसको या तो सुधारना चाहिए या भंग कर देना चाहिए। '

संस्था के अध्यक्ष ने पूछा कि किन-किन सदस्यों को असंतोष है।

10 सदस्यों ने असंतोष व्यक्त किया।

अध्यक्ष ने कहा 'हमें सब लोगों का सहयोग चाहिए। सबको संतोष हो, इसी तरह हम काम करना चाहते हैं। आप 10 सज्जन क्या सुधार चाहते हैं, कृपा कर बतलावें। '

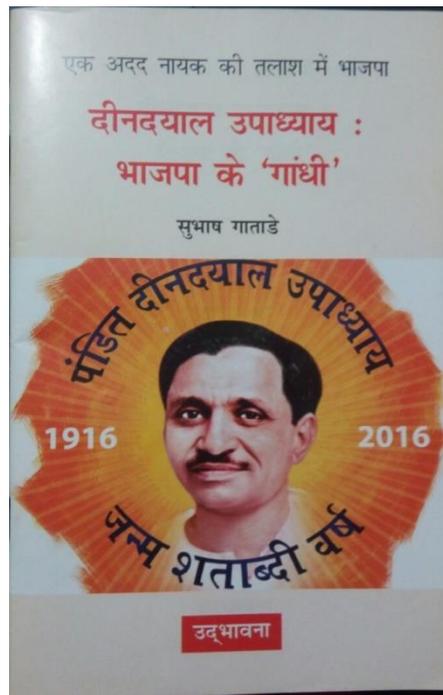
और उन दस सदस्यों ने आपस में विचार कर जो सुधार सुझाए, वे ये थे

'संस्था में 4 सभापति 1 उप सभापति और ३ मंत्री और होने चाहिए. 10 सदस्यों की संस्था के काम से बड़ा असंतोष था।

उनकी बात

भाजपा के 'गांधी' : दीनदयाल उपाध्याय

प्रतिबद्ध वामपंथी पत्रकार एवं न्यू सोशलिस्ट इनिशिएटिव से जुड़े हुए सामाजिक कार्यकर्ता सुभाष गाताड़े ने हाल में संघ के विचारक और एकात्म मानववाद के प्रणेता कहे जाने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय पर अध्ययन कर के एक पुस्तक लिखी है। नवनिर्मिति, वर्धा, महाराष्ट्र द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का नाम है "भाजपा के गांधी"। भाजपा और आरएसएस दीनदयाल उपाध्याय (दीदउ) को गांधी के बरक्स क्यों खड़ा करने में लगे हैं, उसे समझने के लिए इस पुस्तक के कुछ अध्याय ज़रूर पढ़े जाने चाहिए।



1

मुसलमानों के बारे में दीदउ

उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में सहभागी न होना या उसका विरोध करने के अलावा हिन्दू मुस्लिम एकता पर दीनदयाल का नज़रिया बहुत समस्याग्रस्त दिखता है। दीनदयाल ने ऐसे लोगों को मुस्लिमपरस्त कह कर संबोधित किया तथा 'एकता' की कांग्रेस नीति की मुखालिफत की।

संघ के एक मुखपत्र 'राष्ट्रधर्म' में प्रकाशित एक लेख में दावा किया गया है कि संघ के विचारक दीनदयाल उपाध्याय 'हिन्दू मुस्लिम एकता' के खिलाफ थे और मानते थे कि एकता का मुद्दा 'अप्रासंगिक' है और मुसलमानों का तुष्टीकरण है। 'मुस्लिम समस्या: दीनदयाल जी की दृष्टि में' शीर्षक से उपरोक्त लेख राष्ट्रधर्म के विशेष संस्करण में प्रकाशित हुआ था जिसका विमोचन तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री कलराज मिश्र ने किया था। मासिक पत्रिका का उपरोक्त अंक उपाध्याय को समर्पित किया गया है और उसमें उनके बारे में तथा उनके नज़रिये के बारे में लेख है। इसमें प्रकाशित डा महेशचंद्र शर्मा का लेख, यह दावा करता है कि उपाध्याय ने कहा था कि 'मुसलमान होने के बाद कोई व्यक्ति देश का

दुश्मन बन जाता है।' इनका संक्षिप्त परिचय यह है कि दीनदयाल उपाध्याय की 15 घंटों में संकलित रचनाओं का सम्पादन उन्होंने किया है और दीनदयाल उपाध्याय के चिन्तन के एक तरह से आधिकारिक विद्वान समझे जाते हैं। इसमें यह भी लिखा गया है

'अगर देश का नियंत्रण उन लोगों के हाथ में है जो देश में पैदा हुए हैं मगर वह कुतुबुद्दीन, अल्लाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फिरोज शाह तुगलक, शेरशाह, अकबर और औरंगजेब से अलग नहीं हैं, तो यह कहा जा सकता है कि उनके प्रेम के केन्द्र में भारतीय जीवन नहीं है।'

इंडियन एक्सप्रेस: <http://indianexpress.com/article/cities/lucknow/article-in-rss-monthly-deendayal-upadhyaya-was-against-hindu-muslim-unity/>

महेशचन्द्र शर्मा के मुताबिक दीनदयाल मानते थे कि एक मुसलमान व्यक्तिगत तौर पर अच्छा हो सकता है, मगर समूह में बुरा हो जाता है और एक हिन्दू व्यक्तिगत तौर पर बुरा हो, मगर समूह में अच्छा हो जाता है। वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि हिन्दू मुस्लिम एकता की बात करने वाले मुस्लिमपरस्त' होते हैं और उन्होंने कांग्रेस की ऐसी नीति का विरोध किया था।

(<http://indianexpress.com/article/cities/lucknow/article-in-rss-monthly-deendayal-upadhyaya-was-against-hindu-muslim-unity/>)

देश के अलग अलग हिस्सों से आ रही रिपोर्टें इस बात की ताईद करती हैं कि कितनी तेजी से पंडित दीनदयाल उपाध्याय को 'नए भारत' के आयकन के तौर पर स्थापित किया जा रहा है। इन पंक्तियों के लिखे जाते वक्त कांडला बंदरगाह को दीनदयाल का नाम देने का निर्णय हो जाने की खबर आयी। यहां तक कि इस कवायद में विदेश मंत्रालय के भी 'कूदने' की खबर पिछले दिनों आयी जब 22 सितम्बर 2017 को, जन्मशती समारोह के समापन के चन्द रोज पहले उसने अंग्रेजी तथा हिन्दी में एक ईबुक अपने वेबसाइट पर अपलोड कर दी जिसका शीर्षक था 'एकात्म मानववाद' अर्थात इंटिग्रल ह्यूमनिजम' जिसके मुताबिक 'भाजपा ही देश का एकमात्र राजनीतिक विकल्प है, हिन्दू विचार ही भारतीय विचार है और महज हिन्दू समाज ही आध्यात्मिक हो सकता है।'

(<https://thewire.in/182878/mea-bjp-propaganda-hindutva-deendayal-upadhyaya-integral-humanism/>)
वरिष्ठ पत्रकार एवं 'द वायर' के सम्पादक सिद्धार्थ वरदराजन लिखते हैं कि:

'विदेश मंत्रालय की यह ई-किताब भाजपा एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अपने आप को एक सम्मानजनक विचारधारात्मक आवरण ओढ़ने की जोरदार कवायद का ही हिस्सा है। उनके वास्तविक गुरु - के बी हेडगेवार और एम एस गोलवलकर - बहुत अधिक जाने जाते हैं और इस कदर विवादास्पद हैं कि किसी भी किस्म की आलोचनात्मक छानबीन/पड़ताल के सामने कमजोर साबित हो सकते हैं, मगर जहां तक उपाध्याय के जीवन और नज़रिये का ताल्लुक है तो उनके बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है और फिर उन्हें इस तरह इस्तेमाल किया जा सकता है कि संघ के हिन्दुत्व दर्शन को व्यापक समूह के सामने, यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय के समक्ष भी अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है।'

उपाध्याय का जन्म 1916 में हुआ मगर उनके जिन्दगी के पहले तीन दशकों को लेकर विदेश मंत्रालय के इस स्तुतिपरक विवरण में एक ही महत्वपूर्ण बात दिखाई देती है - जबकि उनकी पीढ़ी के सर्वोत्तम ब्रिटिशों से भारत की आज़ादी के लिए लड़ रहे थे - कि वह 1942 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े।

(<https://thewire.in/182878/mea-bjp-propaganda-hindutva-deendayal-upadhyaya-integral-humanism/>)

कोई भी अन्दाज़ा लगा सकता है कि यह महज शुरूआत है।

अगर सत्ताधारी जमातें - उस घटना के 450 साल बीतने के बाद, तमाम ऐतिहासिक तथ्यों को झुठलाते हुए - यह कहने का साहस कर सकती हैं कि हल्दीघाटी की लड़ाई अकबर ने नहीं बल्कि राणा प्रताप ने

जीती थी, तो उन्हें यह दावा करने से कौन रोक सकता है कि हिन्दू मुस्लिम एकता की ताउम्र मुखालिफत करने वाले एक शख्स को उस अज़ीम शख्सियत के बरअक्स खड़ा कर दिया जाए जिसने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान दी थी। क्या यह विरोधाभासपूर्ण नहीं होगा कि एक साथ आज़ादी के संघर्ष के नेता महात्मा गांधी, ऐसी शख्सियतों के साथ साथ खड़े कर दिए जाएं जो उनके विचारों के बिल्कुल खिलाफ खड़े थे।

अंत में, लगभग 'नायक विहीन' संघ-भाजपा कुनबे में दीनदयाल उपाध्याय के महिमामंडन को समझा जा सकता है क्योंकि वह 'गोलवलकर के चिन्तन' पर अडिग रहे मगर उन्होंने 'पूरक के तौर पर गांधीवादी विमर्श की भाषा को भी अपनाया तथा संघ के विचारों को अधिक लोकप्रिय बनाया। केन्द्र में भाजपा के सत्तासीन होने के बाद नए भारत की भविष्यदृष्टि /विजन/ को लेकर बहुत कुछ बदल गया है। गांधी, नेहरू, मौलाना आज़ाद, अम्बेडकर, सुभाषचंद्र बोस एवं आज़ादी के आन्दोलन के तमाम अग्रणियों ने नवस्वाधीन भारत के लिए जिस समावेशी, प्रगतिउन्मुख समाज की कल्पना की थी, उसके स्थान पर इक्कीसवीं सदी की दूसरी दहाई में जो नया भारत गढ़ा जा रहा है वह संघ परिवार की असमावेशी भविष्यदृष्टि /विजन/ पर आधारित है। और ऐसे 'नए भारत' के आयकन, उसके प्रतीक तो दीनदयाल उपाध्याय ही हो सकते हैं।

2

गाय के बारे में दीदउ

दिल्ली के मौलीचन्द्र शर्मा, नए बने संगठन 'भारतीय जनसंघ' के दो महासचिवों में से एक थे - दूसरे व्यक्ति थे भाई महावीर। मुखर्जी की मौत के बाद उन्हें ही जनसंघ के अध्यक्ष पद का कार्यभार सौंपा गया। एक सनातनी संस्कृत विद्वान पंडित दीनदयाल शर्मा के बेटे मौलीचन्द्र शर्मा बीस के दशक में हिन्दू महासभा से जुड़े थे और जनसंघ से जुड़ने के पहले ही अपने आप में एक कद्दावर राजनीतिज्ञ थे। मुखर्जी ने जब भारतीय जनसंघ का आगाज़ किया तब उन्होंने जनसंघ की पंजाब-दिल्ली शाखा के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभायी थी।

आज़ादी के दिनों में वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से भी सम्बद्ध रहे थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दिल्ली इकाई के साथ भी उनके गहरे ताल्लुकात थे और जब महात्मा गांधी की हत्या के बाद संघ पर पाबन्दी लगी, तो इस पाबन्दी को हटाने के लिए उन्होंने "जनाधिकार समिति" नाम से नागरिक अधिकार समूह की भी स्थापना की थी। उन्हें अपनी सक्रियताओं के लिए पब्लिक सेफटी एक्ट के तहत गिरफ्तार किया गया था। (Choudhary, Valimi, ed. (1988). Dr. Rajendra Prasad: Correspondence and Select Documents, Volume 10. Delhi: Allied Publishers. pp. 150-151)

बाद में उन्होंने गृहमंत्री वल्लभभाई पटेल और संघ सुप्रीमो गोलवलकर के बीच मध्यस्थता की भूमिका निभायी ताकि संघ का अपना संविधान बनाने पर सहमति हो सके। (Page 11, Andersen, Walter K.; Damle, Shridhar D. (1987) The Brotherhood in Saffron: The Rashtriya Swayamsevak Sangh and Hindu Revivalism. Delhi: Vistaar Publications)

इस हकीकत के प्रति अनभिज्ञ कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय जनसंघ के कामकाज को नियंत्रित करता है, उन्हें अपने पद से बाद में इस्तीफा देना पड़ा क्योंकि पार्टी बनाने की उनकी स्वतंत्र पहलकदमियां अग्रणी सदस्यों को रास नहीं आयीं- जिनका बहुलांश संघ की शाखाओं से निकला था। बलराज मधोक, जो जनसंघ की कार्यकारी कमेटी के संघ समूह/फैक्शन के सदस्य थे, उन्होंने संघ की पत्रिका आर्गनायजर में

बाकायदा चेतावनी दी थी कि भारतीय जनसंघ का जो भी अगला अध्यक्ष बनेगा उसे पार्टी के संघ स्वयंसेवकों से “स्वैच्छिक सहयोग” हासिल करना होगा।

(Page 11, Andersen, Walter K.; Damle, Shridhar D. (1987) *The Brotherhood in Saffron: The Rashtriya Swayamsevak Sangh and Hindu Revivalism*. Delhi: Vistaar Publications)

रेखांकित करनेवाली बात है कि पार्टी की सेन्ट्रल जनरल कौन्सिल के इंदौर में आयोजित सत्र में अपने अध्यक्षीय भाषण में शर्मा ने पार्टी संविधान में लिखित सिद्धांतों पर- धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और जनतंत्र पर “अटूट आस्था” पर जोर दिया था।

एक क्षेपक के तौर पर यहां नोट किया जा सकता है कि बकौल ए.जी. नूरानी, बाद के दिनों में भी, जनसंघ और उसकी वारिस भारतीय जनता पार्टी ने दो अन्य चुने हुए अध्यक्षों को – 1973 में बलराज मधोक को और 2005 में लालकृष्ण आडवाणी को – संघ के कहने पर अपने पद से चलता किया। (A. G. Noorani, 3 December 2005, “The BJP: A crisis of identity”. *Frontline*. Retrieved 2014-11-06)

मौलीचन्द्र शर्मा की विदाई के बाद हम पार्टी के अन्दर के सत्ता सम्बन्धों में ध्यान में आनेलायक बदलाव को देखते हैं। पार्टी के महासचिव का पद अध्यक्ष पद से अधिक महत्वपूर्ण हो गया और महासचिव होने के नाते दीनदयाल उपाध्याय संगठन के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति बने- जिनसे न केवल यह अपेक्षा की जाती थी कि वह नीति को विकसित करेंगे बल्कि संगठन निर्माण को भी आगे बढ़ाएंगे। संघ के कार्यकर्ताओं का नेटवर्क अब पार्टी में पूरी तरह जड़मूल था और आपसी सन्देश और निर्देश अब बिना किसी रुकावट के पूरावक्ती सांगठनिक सचिवों के मार्फत मिलते थे, जो उसी आत्मानुशासन के साथ काम करते थे जिस तरह संघ में सक्रिय पूरावक्ती कार्यकर्ता करते थे।

जहां तक जनसंघ के गठन और विकास का सवाल है, विश्लेषकों का मानना है कि दीनदयाल उपाध्याय “एक अचूक और सक्षम प्रशासक साबित हुए” जिन्होंने “नीति और पार्टी सिद्धांत की चर्चा में अधिकाधिक रुचि दिखायी और जिन्होंने इस दौरान भारत में बड़े पैमाने पर भ्रमण किया।” और वही कुल मिला कर पार्टी के प्रधान प्रवक्ता बने, यह एक ऐसी भूमिका थी जो इसके पहले मुखर्जी और बाद में पार्टी अध्यक्ष के तौर पर मौलीचन्द्र शर्मा निभाते रहे। उनकी सहायता के लिए उन्हें दो सहायक सचिव दिए गए: पार्टी की उत्तर की इकाइयों के लिए और दक्षिण की इकाइयों के लिए जगन्नाथराव जोशी। जनसंघ की अहम नीतियां उनकी अगुआई में ही आकार ग्रहण कीं। गोहत्या पर पाबन्दी की मांग हमेशा पार्टी घोषणापत्र का हिस्सा रही, जिसका मतलब था कि वह आर्थिक और धार्मिक हितों की पूर्ति करेगी। मिसाल के तौर पर 1954 के घोषणापत्र में कहा गया है:

गाय हमारे सम्मान का बिन्दु है और हमारी संस्कृति का अमर प्रतीक। प्राचीन समयों से उसकी रक्षा की जा रही है और उसे पूजा जा रहा है। हमारी अर्थव्यवस्था भी गाय पर आधारित है। गोरक्षा, इस वजह से, महज हमारा पवित्र कर्तव्य नहीं है बल्कि एक अनिवार्य जरूरत भी है। मवेशियों की रक्षा करना और उनमें सुधार करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उनका कत्ल जारी रहे। मवेशियों की तेजी से घटती संख्या तभी रोकी जा सकती है जब तक उनके कत्ल को पूरी तरह से न रोका जाए। जनसंघ गोहत्या पर पूरी तरह से पाबन्दी लगा देगा और जनता तथा प्रशासन के सहयोग से उसकी गुणवत्ता को सुधार देगा।

(1954 Manifesto, BJS Documents, I, p. 68. See also Bharatiya Jana Sangh, Manifesto (1951), p. 5; 1958 Manifesto, BJS Documents, I, p. 119; Bharatiya Jana Sangh, Election Manifesto 1957, pp. 21-2; Election Manifesto 1962, pp. 16-17; Principles and Policy [New Delhi, 1965], p. 35 Page 149)

खुद दीनदयाल उपाध्याय ने ‘आर्गनायजर’ में लिखे अपने लेख में गोहत्या पर पाबन्दी की मांग करते हुए लिखा था कि ‘गाय राष्ट्र की पहचान है’:

'गोहत्या निरोधी समिति / वह साझा मोर्चा जो विभिन्न धार्मिक एवं हिन्दूवादी संगठनों ने बनाया था – लेखक/ हमेशा यह मानती रही है कि गाय का मुद्दा हमारे लिए उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि भारतीयों के लिए मौलिक अधिकार का। इस मौलिक अधिकार की स्वीकृति या अस्वीकृति ही भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति को नियत करेगी। वे जो यह मानते हैं कि स्वराज का आशय केवल शासन के हस्तांतरण से है, तो वे स्वराज और परराज के बीच अंतर और असंतुलन को समझने में विफल हैं। हमारे लिए स्वराज्य की संकल्पना हमारे मूल्यों का पुनर्जन्म और सम्मान के प्रतीकों का अभ्युदय है। और गाय हमारे सम्मान के सभी प्रतीकों का केन्द्र है। इसलिए जब भी विदेशी आक्रांताओं ने हमारे देश पर आक्रमण किया, सबसे पहले उन्होंने गायों पर विशेषकर प्रहार किया। स्वतंत्रता की हमारी चाहत हमेशा से गायों के संरक्षण के साथ जुड़ी रही है...।'

गोसंरक्षण का यह हमारा नारा न सिर्फ लंबे समय से दमित हमारी इच्छाओं की पूर्ति में सहयोग करेगा बल्कि संपूर्ण राष्ट्र जीवन में स्वयं चेतना की तरंगें भी भरेगा। यह मौजूदा सरकार के स्वरूप का भी कायापलट कर देगा। आज जो यह सरकार राष्ट्रीय सम्मान के सूचकों को संशय की भावना से देखती है, कल वही सरकार गो संरक्षण और गो विकास में गर्व की अनुभूति करेगी। तभी सरकार निरंतर प्रयास के जरिये प्रगति के रास्ते पर ठीक से चल पाएगी और राष्ट्र को महान बना पाएगी।

'गायों के लिए संघर्ष आज़ादी और लोकतंत्र का संघर्ष है' (आर्गनायजर, दिसम्बर 15, 1958, अंग्रेजी से अनूदित, दीनदयाल समग्र रचनावली, पेज 159-161, प्रभात प्रकाशन से साभार)।

याद रहे, गोहत्या पर पाबन्दी लगाने के लिए सरकार पर दबाव बनाने के लिए समानधर्मा संगठनों के साथ जिस साझे मोर्चे का गठन हुआ था, उसके द्वारा प्रेरित आन्दोलन के दौरान संसद के सामने जबरदस्त हिंसा हुई थी जिसके लिए भारतीय जनसंघ की भूमिका की भी पड़ताल हुई थी।

3

हिंदुओं के बारे में दीदउ

उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के उभार के अलावा – जबकि तीसरी दुनिया के तमाम मुल्कों में ऐसे संघर्ष तेज हो रहे थे – उस कालखण्ड की क्या विशिष्टता कही जा सकती है जब एक साधारण प्रचारक के तौर पर दीनदयाल उपाध्याय ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन का आगाज़ किया। याद करें कि यही वह दौर रहा है जब नात्सीवाद-फासीवाद का उभार समूचे यूरोप को ग्रसने को करीब था और दूसरी तरफ सोवियत रूस में कम्युनिस्टों की अगुआई में चल रहा समाजवादी निर्माण का दौर तथा उसके साथ ही कई मुल्कों में कम्युनिस्टों की अगुआई में जुझारू संघर्ष की लहरें एक नयी इबारत लिखती दिख रही थीं। पीछे मुड़ कर देखें तो विश्व इतिहास में वह एक ऐसा मुकाम था जब सामन्तवाद, उपनिवेशवाद की पुरानी दुनिया भहराकर गिर रही थी और नयी दुनिया आकार ले रही थीं।

और इस झंझावाती दौर में हिंदू राष्ट्र की सियासत किस दिशा में आगे बढ़ रही थी इसका अन्दाज़ा हम लगा सकते हैं कि किस तरह गोलवलकर – जो उन दिनों संघ के सुप्रीमो थे – चीजों को, आसपास की परिस्थिति को देख रहे थे और किस तरह की कार्रवाइयों में मुब्तिला थे। यह इस बात को स्पष्ट करेगा कि दीनदयाल उपाध्याय जैसे स्वयंसेवक/प्रचारक उन दिनों क्या कर रहे थे। और यह कहना कतई गलत नहीं होगा कि अपने खास किस्म के विश्वदृष्टिकोण के चलते जिसका फोकस “हिंदू धर्म की गौरवशाली परम्पराओं पर आधारित हिंदू राष्ट्र के निर्माण पर था” और जिसमें बरतानवी उपनिवेशवाद के बरअक्स

मुसलमानों को बड़ा दुश्मन समझा जा रहा था और जिसमें नात्सीवाद-फासीवाद के अन्तर्गत हाथ में लिए गए 'नस्लीय शुद्धिकरण' के अभियानों की तारीफ की जा रही थी, गोलवलकर के लिए यह मुमकिन नहीं हुआ कि वह इतिहास की बदलती धारा पर अपनी नब्ज रख सके। यह वह अडियल रुख था जिसके चलते न केवल वह व्यक्तिगत तौर पर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष से दूर रहे बल्कि उन्होंने अपने संगठन के लिए कोई ऐसा सकारात्मक कार्यक्रम नहीं बनाया ताकि वह उसमें सहभागी हो सके।

जैसा कि जानते हैं कि हिन्दुत्व के फलसफे के प्रति उनका पहला प्रमुख सैद्धांतिक योगदान 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड' /1938/ के रूप में सामने आया। सतहत्तर पेज की इस किताब का एक उद्धरण यह बताने के लिए काफी है कि उसकी अन्तर्वस्तु के बारे में राय बनायी जाए। गोलवलकर ने लिखा था:

'भारत की विदेशी नस्लों को चाहिए कि वह हिंदू संस्कृति और भाषा को अपना ले, उसे चाहिए कि वह हिंदू धर्म का सम्मान करना सीखे, हिंदू नस्ल और संस्कृति- अर्थात् हिंदू राष्ट्र- के महिमामंडन के अलावा उसे अन्य किसी विचार पर गौर नहीं करना चाहिए और उन्हें अपने अलग अस्तित्व को भुलाकर हिंदू नस्ल में समाहित कर देना चाहिए या वे चाहे तो देश में रह सकते हैं, मगर उन्हें फिर हिंदू राष्ट्र के अधीन रहना पड़ेगा, किसी भी चीज़ पर दावा नहीं करना होगा, किसी भी तरह के विशेषाधिकार उन्हें हासिल नहीं होंगे- यहां तक कि नागरिक अधिकार भी नहीं मिलेंगे। कम से कम, उनके सामने और कोई रास्ता अपनाने के लिए नहीं होगा। हम एक प्राचीन मुल्क हैं; आइए एक प्राचीन मुल्क की तरह विदेशी नस्लों के साथ पेश आए, जिन्होंने इस देश में रहना तय किया है।'

(माधव सदाशिव गोलवलकर, वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड)

जानने योग्य है कि 77 पेज की उपरोक्त किताब गोलवलकर ने तब लिखी थी जब हेडगेवार ने उन्हें सरकार्यवाह के तौर पर नियुक्त किया था। 'गैरों' के बारे में यह किताब इतना खुल कर बात करती है या जितना प्रगट रूप में हिटलर द्वारा यहूदियों के नस्लीय शुद्धिकरण के सिलसिले को अपने यहां भी दोहराने की बात करती है कि संघ तथा उसके अनुयायियों ने खुलेआम इस बात को कहना शुरू किया है कि वह किताब गोलवलकर की अपनी रचना नहीं है बल्कि बाबाराव सावरकर की किन्हीं किताब 'राष्ट्र मीमांसा' का गोलवलकर द्वारा किया गया अनुवाद है।

दिलचस्प बात है कि इस मामले में उपलब्ध सारे तथ्य इसी बात की ओर इशारा करते हैं कि इस किताब के असली लेखक गोलवलकर ही हैं। खुद गोलवलकर 22 मार्च 1939 को इस किताब के लिये लिखी गयी अपनी प्रस्तावना लिखते हैं कि प्रस्तुत किताब लिखने में राष्ट्र मीमांसा 'मेरे लिये ऊर्जा और सहायता का मुख्य स्रोत रहा है।' मूल किताब के शीर्षक में लेखक के बारे में निम्नलिखित विवरण दिया गया है:

"माधव सदाशिव गोलवलकर, एमएससी, एल.एल.बी. (कुछ समय तक प्रोफेसर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)।"

इसके अलावा, किताब की भूमिका में, गोलवलकर ने निम्नलिखित शब्दों में अपनी लेखकीय स्थिति को स्वीकारा था: "यह मेरे लिये व्यक्तिगत सन्तोष की बात है कि मेरे इस पहले प्रयास- एक ऐसा लेखक जो इस क्षेत्र में अनजाना है- की प्रस्तावना लोकनायक एम.एस. अणे ने लिख कर मुझे सम्मानित किया है।" ('वी आर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड, गोलवलकर की भूमिका से, पेज 3)

अमेरिकी विद्वान जीन ए कुरन- जिन्होंने पचास के दशक की शुरुआत में संघ पर अध्ययन किया तथा जो उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं, अपनी किताब "मिलिटेंट हिन्दूइजम इन इंडियन पॉलिटिक्स: ए स्टडी आफ द आरएसएस" (1951) में इस बात की ताईद करते हैं कि किताब के रचयिता गोलवलकर ही हैं

और उसे संघ की 'बाइबिल' के तौर पर संबोधित करते हैं। एजी नूरानी अपनी चर्चित किताब 'द आरएसएस एण्ड द बीजेपी: ए डिवीजन आफ लेबर' (पेज 18-19, लेफ्टवर्ड बुक्स) बताते हैं कि वर्ष 1978 में सरकार के सामने प्रस्तुत अपने लिखित शपथपत्र में अनुच्छेद 10 में आधिकारिक तौर पर बताते हैं कि-

"भारत ऐतिहासिक तौर पर प्राचीन समय से ही हिंदू राष्ट्र रहा है, इसे वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए माधव सदाशिव गोलवलकर ने एक किताब लिखी थी जिसका शीर्षक था "वी आर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड"। अनुच्छेद 7 में उन्होंने उनकी किताब "बंच आफ थॉट्स/विचार सुमन" (1966) का उल्लेख भी किया ताकि "संघ के कामों एवं उसकी गतिविधियों के उद्देश्य, वास्तविक स्वरूप, दायरा आदि के बारे में स्पष्ट हुआ जा सके।"

संघ सुप्रीमो के तौर पर गोलवलकर के विचारों का अन्य अहम मसला दलितों एवम स्त्रियों के प्रति तत्कालीन नेतृत्व का पुरातनपंथी नज़रिया रहा है जिस पर ब्राहमणवादी पुनरुत्थान का प्रभाव साफ दिखता है। यह अकारण नहीं था कि आज़ादी के वक्त जब नया संविधान बनाया जा रहा था, तब संघ ने उसका जोरदार विरोध किया था और उसके स्थान पर मनुस्मृति को अपना देने की हिमायत की थी। इस विरोध की बानगी ही यहां दी जा सकती है। अपने मुखपत्र 'आर्गेनायजर' (30 नवम्बर, 1949, पृष्ठ 3) में संघ की ओर से लिखा गया था कि-

"हमारे संविधान में प्राचीन भारत में विलक्षण संवैधानिक विकास का कोई उल्लेख नहीं है। मनु की विधि स्पार्टा के लाइकरगुस या पर्सिया के सोलोन के बहुत पहले लिखी गयी थी। आज तक इस विधि की जो 'मनुस्मृति' में उल्लेखित है, विश्वभर में सराहना की जाती रही है और यह स्वतःस्फूर्त धार्मिक नियम - पालन तथा समानरूपता पैदा करती है। लेकिन हमारे संवैधानिक पंडितों के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है।"

उन्हीं दिनों जब अम्बेडकर एवं नेहरू की अगुआई में 'हिंदू कोड बिल' के जरिए हिंदू स्त्रियों को सम्पत्ति एवं विरासत में सीमित अधिकार दिलाने की पहल हुई तब गोलवलकर एवं उनके सहयोगियों ने महिलाओं के इस ऐतिहासिक सशक्तिकरण के खिलाफ व्यापक आन्दोलन छेड़ा था। उनका कहना था: यह हिंदू परम्पराओं एवं संस्कृति के प्रतिकूल है।

निश्चित ही दीनदयाल उपाध्याय- जो संगठन के अनुशासित प्रचारक थे- इस समूचे घटनाक्रम के न केवल गवाह थे बल्कि उसमें सहभागी भी थे, उनकी इसी निष्ठा के चलते वह संघ सुप्रीमो के करीबियों में शुमार किए जाते थे। बाद के दिनों में भी दीनदयाल ने संघ सुप्रीमो के इन जाति के महिमामण्डन के विचारों पर सवाल नहीं उठाया बल्कि उसे अलग ढंग से औचित्य प्रदान करते रहे। उनके तर्कों में अलग किस्म का परिष्कार दिख रहा था, मगर जाति की वैधता पर कहीं भी प्रश्न नहीं थे बल्कि उसे स्वधर्म के समकक्ष रखा गया था।

"हालांकि आधुनिक दुनिया में समानता के नारे उठते हैं, समानता की अवधारणा को सोच समझ कर स्वीकारने की जरूरत है। हमारा वास्तविक अनुभव यही बताता है कि व्यावहारिक और भौतिक नज़रिये से देखें तो कोई भी दो लोग समान नहीं होते... बहुत सारी उग्रता से बचा जा सकता है अगर हम हिंदू चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत किए गए समानता के विचार पर गंभीरता से गौर करें। सबसे पहला और बुनियादी प्रस्थान बिन्दु यही है कि भले ही लोगों के अलग अलग गुण होते हैं और उन्हें उनके गुणों के हिसाब से अलग अलग काम आवंटित होते हैं, मगर सभी काम समान रूप से सम्मानजनक होते हैं। इसे ही स्वधर्म कहते हैं और इसमें एक स्पष्ट गारंटी रहती है कि स्वधर्म का पालन ईश्वर की पूजा के समकक्ष होता है।

इसलिए स्वधर्म की पूर्ति के लिए सम्पन्न किए गए किसी भी कर्तव्य में, उच्च और नीच और सम्मानित तथा असम्मानित का प्रश्न उठता ही नहीं है। अगर कर्तव्य को बिना स्वार्थ के पूरा किया जाए, तो करनेवाले पर कोई दोष नहीं आता।”

[vii] [vii] C. P. Bhisikar, Pandit Deendayal Upadhyaya: Ideology and Perception: Concept of the Rashtra, vol. v, Suruchi, Delhi, 169

वैचारिक तौर पर गहरी नजदीकी हो या संगठन के उद्देश्यों को लेकर अनुशासित ढंग से कार्य करना हो, या नेतृत्व के हर आदेश को सर आंखों पर लेना हो, दीनदयाल उपाध्याय सभी परीक्षाओं में खरे उतरते गए। यह अकारण नहीं था कि संघ के एक वरिष्ठ नेता ने लिखा है कि गोलवलकर गुरुजी तथा दीनदयालजी दोनों के बीच “काफी तादात्म्य था।” दत्तोपंत ठेंगडी, जो संघ के एक दूसरे वरिष्ठ नेता थे तथा जिन्होंने भारतीय मजदूर संघ और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद की स्थापना में योगदान दिया, लिखते हैं कि:

“पंडितजी का सबसे महत्वपूर्ण एवं आत्मीयता का अलौकिक संबंध तत्कालीन सरसंघचालक परम पूजनीय श्री गुरुजी के साथ था। परम पूजनीय श्री गुरु तथा श्री दीनदयाल जी के संबंधों का वर्णन करने में शब्द असमर्थ हैं। यह बात सभी निकटवर्तियों के ध्यान में आती थी कि स्वयंसेवक, प्रचारक तथा कार्यकर्ता के नाते दीनदयाल जी से श्री गुरुजी विशेष अपेक्षा रखते थे। दोनों की “वेवलेंगथ” (वैचारिक तरंग-दैर्घ्य) एक ही थी। किसी भी घटना पर श्री गुरुजी की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसकी अचूक कल्पना दीनदयाल जी कर सकते थे।”

(पेज 11, तत्वजिज्ञासा, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली 2016)

लाजिम था न दीनदयाल ने जाति के प्रश्न पर, न ही स्वतंत्रता संग्राम के प्रश्न पर और न ही नात्सीवाद के आकलन पर गोलवलकर से कुछ अलग बात कही थी और यही स्थिति तब भी थी जब गोलवलकर ने “संकर को लेकर हिंदू प्रयोगों” की बात करते हुए शेष हिन्दुओं की तुलना में उत्तर भारत के ब्राहमणों को वरीयता प्रदान की। उनका यह भी कहना था कि भारत में हिन्दुओं की एक बेहतर नस्ल मौजूद है और हिन्दुओं की एक कमजोर नस्ल मौजूद है, जिसे वर्णसंकर के माध्यम से बेहतर करना होगा।

गुजरात युनिवर्सिटी के समाज विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के सामने प्रस्तुत अपने इस व्याख्यान में (17 नवम्बर, 1960) गोलवलकर ने अपना यह नस्लवादी सिद्धांत पेश किया था (देखें, Organiser जनवरी 2, 1961, पेज 5)।

“आज के वक्त में संकर (क्रॉस ब्रीडिंग) के प्रयोग सिर्फ जानवरों पर किए जाते हैं। ऐसे प्रयोगों को मनुष्य जाति पर करने का साहस आज के कथित आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी नहीं किया। अगर आज कुछ हद तक मानवीय पार प्रजनन संभव हो सका है तो वह वैज्ञानिक प्रयोगों का नहीं बल्कि यौन सुख/कामुक वासना का ही परिणाम है। आइए अब देखते हैं कि हमारे पूर्वजों ने इस क्षेत्र में किस तरह प्रयोग किए। क्रॉस ब्रीडिंग अर्थात् वर्णसंकर के जरिए मानवीय नस्ल को बेहतर करने के लिए उत्तर के नम्बूद्री ब्राहमणों को केरल में बसाया गया था और यह नियम बनाया गया था कि नम्बूद्री परिवार का बड़ा बेटा वैश्य, क्षत्रिय या शूद्र समुदायों की बेटियों से ही ब्याह करेगा। इसके अलावा एक अन्य साहसी नियम था कि किसी भी वर्ग की शादीशुदा महिला की पहली संतान नम्बूद्री ब्राहमण से पैदा होगी और बाद में वह अपने पति से प्रजनन कराएगी। आज इस प्रयोग को व्यभिचार कह सकते हैं, मगर वह वैसा नहीं था, क्योंकि पहली संतान तक ही सीमित था।”

कई सारे संदर्भों में अपमानजनक दिखने वाले इस वक्तव्य पर चाहे दीनदयाल उपाध्याय हों या संघ के अन्य वरिष्ठ कार्यकर्ता हों, कहीं से असहमति नहीं प्रगट होती। बकौल डॉ. शम्सुल इस्लाम (“गोलवलकर्स वी आर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड ए क्रिटिक, 2006, फारोस मीडिया, दिल्ली पेज 30-31) गोलवलकर का यह वक्तव्य बताता है कि वह हिन्दुओं में उत्तम नस्ल और हीन नस्ल की बात से इत्तेफाक रखते थे। दूसरे, उनका मानना था कि उत्तर भारत के ब्राहमण, विशेषकर नम्बूद्री ब्राहमण, ही उत्तम नस्ल से सम्बद्ध थे।

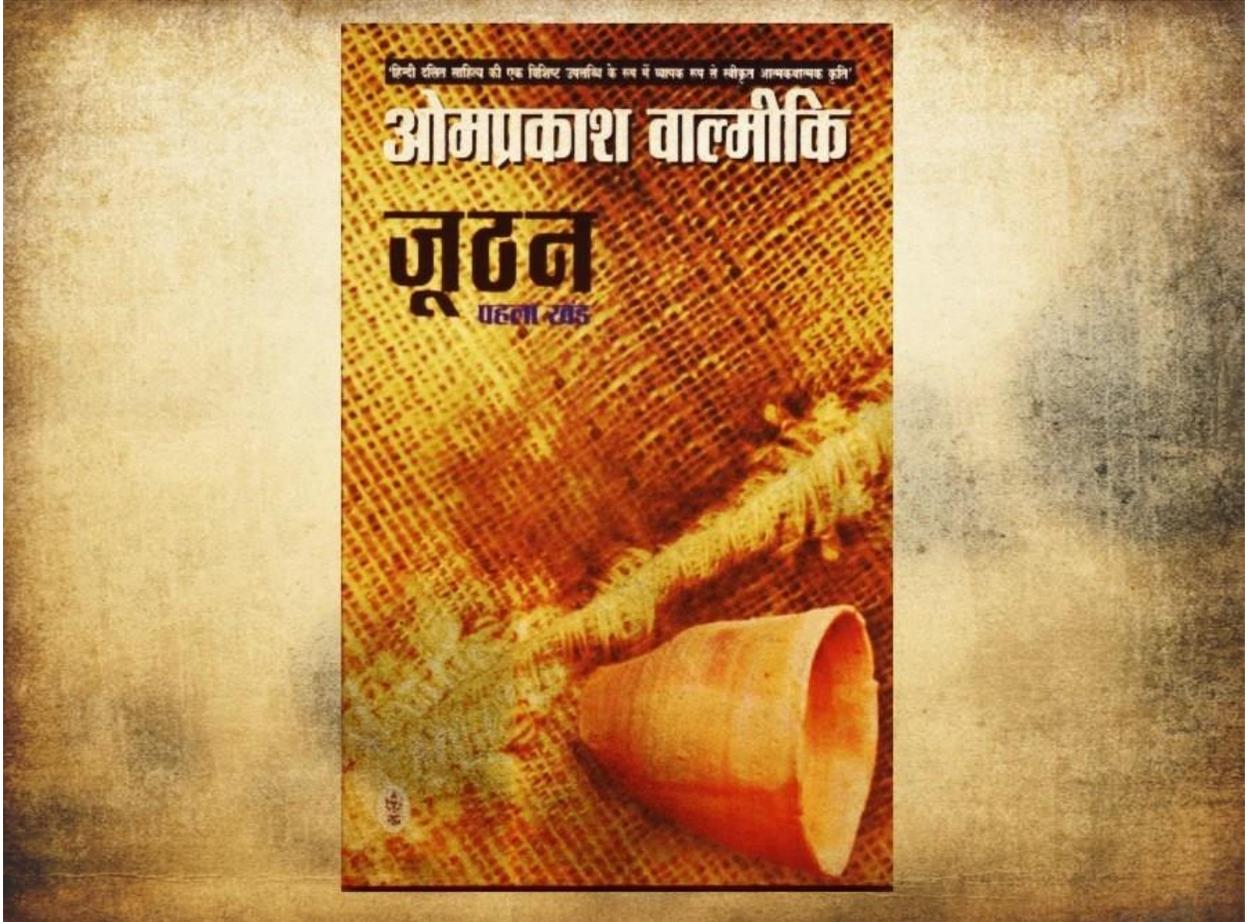
सबकी बात

पेरुमल मुरुगन, सोवेन्द्र हांसदा शेखर और अब ओमप्रकाश वाल्मीकि
निशाने पर 'जूठन'

सुभाष गाताडे

"तुम्हारी महानता मेरे लिए स्याह अंधेरा है / मैं जानता हूँ / मेरा दर्द तुम्हारे लिए चींटी जैसा / और तुम्हारा अपना दर्द पहाड़ जैसा / इसलिए, मेरे और तुम्हारे बीच / एक फासला है / जिसे लम्बाई में नहीं / समय से नापा जाएगा।

- ओमप्रकाश वाल्मीकि



1

1997 में आयी आत्मकथा 'जूठन' आते ही चर्चित हुई थी। उस वक्त एक सीमित दायरे में ही उसके लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम जाना जाता था। मगर हिन्दी जगत में किताब का जो रिस्पान्स था, जिस तरह अन्य भाषाओं में उसके अनुवाद होने लगे, उससे यह नाम दूर तक पहुंचने में अधिक वक्त नहीं लगा। यह अकारण नहीं था कि इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई के मध्य में वह किताब अंग्रेजी में अनूदित होकर कनाडा तथा अन्य देशों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल की गयी थी। एक

मोटे अनुमान के हिसाब से देश के तेरह अलग अलग विश्वविद्यालयों में - जिनमें कई केन्द्रीय विश्वविद्यालय शामिल हैं - इन दिनों यह उपन्यास या उसके अंश पढ़ाए जा रहे हैं।

उपरोक्त आत्मकथा “जूठन” का वह प्रसंग शायद ही कोई भूला होगा, जब इलाके के वर्चस्वशाली जाति से जुड़े किसी सुखदेव के घर हो रही अपनी बेटा की शादी के वक्त अपमानित की गयी उस नन्हे बालक (स्वयं ओमप्रकाशजी) एवं उसकी छोटी बहन माया की मां ‘उस रात गोया दुर्गा’ बनी थी और उसने त्यागी को ललकारा था और एक ‘शेरनी’ की तरह वहां से अपनी सन्तानों के साथ निकल गयी थी। कल्पना ही की जा सकती है कि जिला मुजफ्फरनगर के एक गांव में (जो 21वीं सदी की दूसरी दहाई में भी वर्चस्वशाली जातियों की दबंगई और खाप पंचायतों की मनमानी के लिए कुख्यात है) आज से लगभग साठ साल पहले इस बगावत क्या निहितार्थ रहे होंगे। उनकी मां कभी उस शख्स के दरवाजे नहीं गयी। इस नन्हे बालक के मन पर अपनी अनपढ़ मां की यह बगावत (जो वर्णसमाज के मानवद्रोही निज़ाम के तहत सफाई के पेशे में मुब्तिला थी और उस पेशे की वजह से ही लांछन का जीवन जीने के लिए अभिशप्त थी) गोया अंकित हो गयी, जिसने उसे एक तरह से तमाम बाधाओं को दूर करने का हौसला दिया।

विडम्बना ही है कि एक ऐसी रचना - जिसने उत्तर भारत में 90 की दशक में उठी दलित उभार की परिघटना में नया आयाम जोड़ा था और शेष समाज के संवेदनशील तबके को झकझोर कर रख दिया था तथा आत्मपरीक्षण के लिए प्रेरित किया था - उससे कुछ लोग “आहत” होते दिख रहे हैं और उन्होंने यह मांग की है कि स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम से उसके अंशों को हटाया जाए। मांग की अगुआई हिमाचल प्रदेश में सत्ताधारी पार्टी से जुड़ा छात्र संगठन कर रहा है।

मालूम हो कि इस उपन्यास के अंग्रेजी अनुवाद के कुछ अंश हिमाचल युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम में कुछ साल से पढ़ाए जा रहे हैं। पश्चिम के कई देशों में पढ़ाए जा रहे इस उपन्यास से अचानक ‘आहत हो रही भावनाओं’ का मामला यहां तक पहुंचा है कि पढ़ानेवाले अध्यापक इस सन्दर्भ में दलाई लामा से भी मिल चुके हैं और छात्रों के एक हिस्से की मांग को लेकर राज्य के उच्च शिक्षा निदेशक ने यह भी कहा है कि मामले की जांच करवाई जाएगी और जरूरत पड़ने पर उसे हटा दिया जाएगा।

([http://www.mediavigil.com/print/casteist-mindset-of-amar-ujala-editors-proved /](http://www.mediavigil.com/print/casteist-mindset-of-amar-ujala-editors-proved/))

यह बात विचारणीय है कि पाठ्यक्रम की कथित विसंगतियों को लेकर दलाई लामा से मिलने की बात क्या मायने रखती है? मगर वह किस्सा फिर कभी।

प्रश्न उठता है कि ‘बस्स! बहुत हो चुका’ जैसा कवितासंग्रह हो या ‘सलाम’ शीर्षक से आया कहानी संग्रह हो या ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’ जैसी रचना हो या ‘सदियों का सन्ताप’ जैसी अन्य पुस्तक हो, साहित्य के इन तमाम रूपों के जरिए एक विशाल तबके के लिए अपमान-जिल्लत भरी जिन्दगी जीने की मजबूरी के खिलाफ अपनी जंग जारी रखनेवाले ओमप्रकाश वाल्मीकि की सबसे चर्चित रचना को अचानक निशाना बनाने की वजह क्या है? और वह भी उनके इन्तकाल के लगभग पांच साल बाद, जबकि वह अपनी रचना की हिफाजत करने के लिए भी मौजूद नहीं हों। ऐसी परिस्थिति आज नहीं तो कल विकसित होगी इसकी भविष्यवाणी गोया वाल्मीकिजी ने अपनी रचना में की थी? अपनी कविता “उन्हें डर है” में उन्होंने साफ लिखा था:

"उन्हें डर है / बंजड़ धरती का सीना चीर कर / अन्न उगा देने वाले सांवले खुरदरे हाथ / उतनी ही दक्षता से जुट जायेंगे / वर्जित क्षेत्र में भी / जहाँ अभी तक लगा था उनके लिए / नो एंट्री का बोर्ड / उन्हें डर है / भविष्य के गर्भ से चीख-चीख कर / बाहर आती हजारों साल की वीभत्सता / जिसे रचा था उनके

पुरखों ने भविष्य निधि की तरह / कहीं उन्हें ही न ले डूबे किसी अंधेरी खाई में / जहाँ से बाहर आने के तमाम रास्ते / स्वयं ही बंद कर आये थे / सुग्रीव की तरह"

विडम्बना ही है देश के प्रबुद्ध जगत में भी इस मसले पर कोई सरगर्मी, कोई प्रतिक्रिया नहीं दिख रही है! मुमकिन है कि पेरूमल मुरुगन या हांसदा सोवेन्द्र शेखर जैसे लेखकों पर - इलाके के वर्चस्वशाली समूहों के पड़ रहे दबावों को खिलाफ आवाज़ उठानेवाले प्रबुद्ध जनों तक यह खबर पहुंची नहीं है या उसकी गंभीरता से वाकिफ़ नहीं हो सके हैं।

2

'जूठन' को पाठयक्रम से बाहर कर दिए जाने की इस मांग को कैसे समझा जाए, यह मसला विचारणीय है। क्या यह कहा जाना मुनासिब है कि समाज एवं साहित्यजगत पर हावी ऐसे लोग अभी भी उस सच्चाई से रूबरू नहीं होना चाहते कि भारत में जातिप्रथा सदियों से उपस्थित रही है, जिसने शुद्धता और छूआछूत के नाम पर समाज के बड़े हिस्से को बुनियादी मानव अधिकारों से भी वंचित रखा है और आधुनिकता के आगमन के बाद ही इस संरचना में पहली बार कुछ हरकत, बदलाव की गुंजाइश दिख रही है?

अपनी चर्चित रचना "अछूत कौन और कैसे?" जिसमें वह अस्पृश्यता के जड़ तक पहुंचने की कोशिश करते हैं, डॉ. अम्बेडकर ने इसी दोहरे रूख की पड़ताल की थी।

"सनातन धर्मान्ध हिंदू के लिए यह बुद्धि से बाहर की बात है कि छूआछूत में कोई दोष है। उसके लिए यह सामान्य स्वाभाविक बात है। वह इसके लिए किसी प्रकार के पश्चात्ताप और स्पष्टीकरण की मांग नहीं करता। आधुनिक हिंदू छूआछूत को कलंक तो समझता है लेकिन सबके सामने चर्चा करने से उसे लज्जा आती है। शायद इससे कि हिंदू सभ्यता विदेशियों के सामने बदनाम हो जाएगी कि इसमें दोषपूर्ण एवं कलंकित प्रणाली या संहिता है जिसकी साक्षी छूआछूत है।"

(डॉ. अम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे?)

विडम्बना ही है कि जाति प्रथा के महज उल्लेख से - उसके वर्णन से - भावनाएं आहत होने के मामले में हिमाचल प्रदेश के भद्रजन अकेले नहीं कहे जा सकते।

अभी कुछ समय पहले उधर मलेशिया में भारतीय मूल के निवासियों की गिरफ्तारी का मसला अचानक सुर्खियां बना था। बताया गया था कि 'हिन्ड्राफ' (Hindraf) नामक संगठन के कार्यकर्ता इस बात से नाराज थे कि मलेशिया के स्कूलों में बच्चों के अध्ययन के लिए जो उपन्यास लगाया गया था, वह कथित तौर पर भारत की 'छवि खराब' करता है। आखिर उपरोक्त उपन्यास में ऐसी क्या बात लिखी गयी थी, जिससे वहां स्थित भारतवंशी मूल के लोग अपनी 'मातृभूमि' की बदनामी के बारे में चिन्तित हो उठे थे। अगर हम बारीकी से देखें तो इस उपन्यास में एक ऐसे शख्स की कहानी थी जो तमिलनाडु से मलेशिया में किस्मत आजमाने आया है और वह यह देख कर हैरान होता है कि अपनी मातृभूमि पर उसका जिन जातीय अत्याचारों से साबिका पड़ता था, उसका नामोनिशान यहां नहीं है।

यह सवाल किसी ने नहीं उठाया कि अपने यहां जिसे परम्परा के नाम पर महिमामण्डित करने में हम संकोच नहीं करते हैं, उच्च-नीच अनुक्रम पर टिकी इस प्रणाली को मिली दैवी स्वीकृति की बात करते हैं, आज भी आबादी के बड़े हिस्से के साथ (जानकारों के मुताबिक) 164 अलग अलग ढंग से छूआछूत बरतते हैं, वही बात अगर सरहद पार की किताब में उपन्यास में ही लिखी गयी तो वह उन्हें अपमान क्यों मालूम पड़ती है।

और मलेशिया में बसे आप्रवासी भारतीय अनोखे नहीं हैं।

अमेरिका की सिलिकान वैली -सैनफ्रान्सिस्को बे एरिया के दक्षिणी हिस्से में स्थित इस इलाके में दुनिया के सर्वाधिक बड़े टेक्नोलोजी कार्पोरेशन्स के दफ्तर हैं - में तो कई भारतवंशियों ने अपनी मेधा से काफी नाम कमाया है। मगर जब कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रमों की पुनर्रचना होने लगी, तब हिंदू धर्म के बारे में एक ऐसी आदर्शकृत छवि किताबों में पेश की गयी, जिसका हकीकत से कोई वास्ता नहीं था। अगर इन किताबों को पढ़ कर कोई भारत आता तो उसके लिए न जाति अत्याचार कोई मायने रखता था, न स्त्रियों के साथ दोगम व्यवहार कोई मायने रखता था। जाहिर है हिंदू धर्म की ऐसी आदर्शकृत छवि पेश करने में रूढ़िवादी किस्म की मानसिकता के लोगों का हाथ था, जिन्हें इसके वर्णनमात्रा से भारत की बदनामी होने का डर सता रहा था। साफ था इनमें से अधिकतर उंची कही जानेवाली जातियों में जनमे थे। अन्ततः वहां सक्रिय सेक्युलर हिन्दोस्तानियों को, अम्बेडकरवादी समूहों तथा अन्य मानवाधिकार समूहों के साथ मिल कर संघर्ष करना पड़ा और तभी पाठ्यक्रमों में उचित परिवर्तन मुमकिन हो सका। (http://www.huffingtonpost.com/entry/erasing-caste-the-battle_b_9817862.html?section=indiaCd)

यह दलील दी जा रही थी कि हिन्दुओं में जाति एवं पुरुषसत्ता का चित्रण किया जाएगा तो वह 'हिन्दु बच्चों को हीन भावना' से ग्रसित कर देगा और उनकी 'प्रताडना' का सबब बनेगा, लिहाजा उस उल्लेख को टाला जाए। ऊपरी तौर पर आकर्षक लगनेवाली यह दलील दरअसल सच्चाई पर परदा डालने जैसी है क्योंकि वही तर्क फिर नस्लवाद के सन्दर्भ में भी इस्तेमाल किया जा सकता है और किताबों से उसकी चर्चा को गायब किया जा सकता है।

अम्बेडकर के विचारों से प्रेरित ओमप्रकाश वाल्मीकि के लेखन को इस तरह विवादित बना देने को लेकर - जो एक तरह से समूचे "दलित लेखन" के प्रति वर्णवादी मानसिकता की नकारात्मक प्रतिक्रिया का सटीक उदाहरण है - एक क्षेपक के तौर पर हम अमेरिका में ब्लैक लिटरेचर अर्थात् अश्वेत साहित्य के प्रति श्वेत प्रतिक्रिया की भी पड़ताल कर सकते हैं। वैसे दलित लेखन को लेकर कथित वर्चस्वशाली जातियों की प्रतिक्रिया बरबस अश्वेत लेखन को लेकर श्वेत प्रतिक्रिया की याद ताज़ा करती है:

"किसे गुणवत्तापूर्ण/श्वेतसाहित्य कहा जाए इसे लेकर उच्च-नीच अनुक्रम/हार्डरार्की की दुराग्रही अवधारणा और फिर उसी साहित्य में किन /श्वेत/ पात्रों को मानवीय समझा जाए और उनकी जिन्दगियों की नकारात्मक घटनाओं को लेकर एक विमर्श बना है। यह कोई बौद्धिक या आकलन का मुद्दा नहीं है...; यह नस्लीय मुद्दा है..."

...महान अश्वेत लेखक जेम्स बाल्डविन ने लिखा है कि किस तरह श्वेतजन अपने खुद के अस्तित्व को लेकर उन भ्रांतियों-भ्रमों / जिन्हें श्वेत वर्चस्व ने गढ़ा है / से रूबरू होने से इन्कार करते हैं, जिनको वह निर्मित करते हैं तथा उसी पर जिन्दगी गुजार देते हैं; किस तरह उन छद्मों से परे अपने अस्तित्व की पड़ताल करना भी उनके लिए कठिन होता है...

(<http://www.gradientlair.com/post/44561535092/white-responses-to-black-literature>)

3

आखिर जब किताब कुछ साल से पढ़ायी जा रही थी तब भावनाओं के अचानक आहत होने की बात कहां से पैदा हुई। क्या इसका ताल्लुक राज्य में हुए हालिया सत्ता परिवर्तन से जोड़ा जा सकता है। साफ है कि जिस किस्म का सियासी समाजी माहौल बन रहा है, जहां मनु और उसके विचारों की हिमायत करने पर इन दिनों किसी को एतराज होना तो दूर, आप सम्मानित भी हो सकते हैं, उस पृष्ठभूमि में डॉ.

अम्बेडकर के विचारों के रैडिकल अन्तर्य/अन्तर्वस्तु को लोगों तक पहुंचाती दिखती किताब - भले ही वह आत्मकथा हो - उस पर इन यथास्थितिवादियों की टेढ़ी निगाह जाना आश्चर्यजनक नहीं लगता। फिलवक्त केन्द्र में तथा देश के कई राज्यों में सत्तासीन इस जमात के लोगों का चिन्तन तरह समूचे मुल्क को रूढिवाद और परम्परा के गर्त में ढकेल देना चाहता है, इसकी एक मिसाल दी जा सकती है। (<http://www.mediavigil.com/morcha/rss-is-in-favour-of-manu-smritint>) दिसम्बर माह की 10 तारीख को जयपुर में बाकायदा एक कार्यक्रम आयोजित किया गया था जिसका शीर्षक था “मनु प्रतिष्ठा समारोह” जिसमें संघ परिवार के अग्रणियों ने साझेदारी की थी। इसमें यह बात जोर देकर कही गयी थी मनु की छवि को इतिहासकारों ने विकृत किया है। याद रहे कि जयपुर ही वह शहर है जहां मनु की मूर्ति की स्थापना भाजपा के तत्कालीन मुख्यमंत्री भैरोंसिंह शेखावत के जमाने में उच्च अदालत में की गयी थी। यह किसी की चिन्ता का विषय उन दिनों नहीं बना था कि डॉ. अम्बेडकर की मूर्ति अदालत के कहीं कोने में पड़ी है।

भले ही यह बात अब इतिहास की किताबों में दर्ज हो, मगर हमें नहीं भूलना चाहिए कि पचास-साठ के दशकों में उत्तर भारत में चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु, ललई सिंह यादव ‘पेरियार’, रामस्वरूप वर्मा आदि कड़्यों ने अपने लेखन से जो अलख जगाए रखी, अपने सामाजिक सांस्कृतिक प्रबोधन से उत्पीड़ित समुदाय को मुक्ति के फलसफे से अवगत कराया, भाग्यवाद के घटिया चिन्तन से तौबा करना सिखाया, उसी मुहिम ने तो बाद में दलित-उत्पीड़ित एसर्शन/दावेदारी की जमीन तैयार की।

पचास-साठ के दशकों से हालात काफी बदले हैं, मगर इसके बावजूद ऐसे विचारों की ताप समाप्त नहीं हुई है। वह नए-नए नौजवानों को आमूलचूल बदलाव के फलसफे से रूबरू करा रही है।

ऐसे उथल-पुथल भरे माहौल में ओमप्रकाश वाल्मीकि की भारतीय समाज की तीखी आलोचना निहित स्वार्थी तत्वों को कैसे बरदाश्त हो सकती है, जो न केवल यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं बल्कि वर्णव्यवस्था से सदियों से उत्पीड़ित तबकों को धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ खड़ा करके एक नए किस्म की पेशवाई को- ब्राह्मणवादी हुकूमत को- कायम करना चाहते हैं।

इसे महज संयोग नहीं कहा जा सकता कि वर्ष 2014 में जब से मोदी की अगुआई में सरकार बनी है तबसे दलितों के उभार की कई घटनाएं सामने आयी हैं और दिलचस्प यह है कि हर आनेवाली घटना अधिक जनसमर्थन जुटा सकी है। दरअसल यह एहसास धीरे धीरे गहरा गया है कि मौजूदा हुकूमत न केवल सकारात्मक कार्रवाई वाले कार्यक्रमों /आरक्षण तथा अन्य तरीकों से उत्पीड़ितों को विशेष अवसर प्रदान करना/ पर आघात करना चाहती है बल्कि उसकी आर्थिक नीतियों- तथा उसके सामाजिक आर्थिक एजेण्डा के खतरनाक संश्रय ने दलितों एवं अन्य हाशियाकृत समूहों/तबकों की विशाल आबादी पर कहर बरपा किया है।

यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि हुकूमत में बैठे लोगों के लिए एक ऐसी दलित सियासत की दरकार है, जो उनके इशारों पर चले। वह भले ही अपने आप को डॉ. अंबेडकर का सच्चा वारिस साबित करने की कवायद करते फिरे, लेकिन सच्चाई यही है कि उन्हें असली अंबेडकर नहीं बल्कि उनके साफसुथराकृत /sanitised संस्करण की आवश्यकता है। वह वास्तविक अंबेडकर से तथा उनके रैडिकल विचारों से किस कदर डरते हैं, यह गुजरात की पूर्व मुख्यमंत्री आनंदीबेन पटेल के दिनों के उस निर्णय से समझा जा सकता है जिसने किसी विद्वान से सम्पर्क करके लिखवाये अंबेडकर चरित्र की चार लाख प्रतियां कबाड़ में डाल दीं, वजह थी कि उस विद्वान ने किताब के अन्त में उन 22 प्रतिज्ञाओं को भी शामिल किया जो डॉ. अंबेडकर ने 1956 में धर्मांतरण के वक्त अपने अनुयायियों के साथ ली थीं।

(<http://www.baiae.org/resources/great-people/dr-babasaheb-ambedkar/12-ambedkar-writings-and-speeches/7-22-vows-of-dr-ambedkar.html> /)

और शायद इसी एहसास ने जबरदस्त प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। और अब यही संकेत मिल रहे हैं कि यह कारवां रुकने वाला नहीं है।

चाहे चेन्नई आईआईटी में अंबेडकर पेरियार स्टडी सर्कल पर पाबंदी के खिलाफ चली कामयाब मुहिम हो (<https://kafila.org/2015/06/05/no-to-ambedkar-periyar-in-modern-day-agraharam/>) या हैदराबाद सेन्ट्रल युनिवर्सिटी के मेधावी छात्रा एवं अंबेडकर स्टुडेंट एसोसिएशन के कार्यकर्ता रोहित वेमुल्ला की 'सांस्थानिक हत्या' के खिलाफ देश भर में उठा छात्र युवा आन्दोलन हो (<https://kafila.org/2016/01/22/long-live-the-legacy-of-comrade-vemula-rohith-chakravarthy-statement-by-new-socialist-initiative-nsi/>) या महाराष्ट्र में सत्तासीन भाजपा सरकार द्वारा अंबेडकर भवन को गिराये जाने के खिलाफ हुए जबरदस्त प्रदर्शन हों या इन्कलाबी वाम के संगठनों की पहल पर पंजाब में दलितों द्वारा हाथ में ली गयी 'जमीन प्राप्ति आन्दोलन' हो - जहां जगह-जगह दलित अपने जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को लेकर सामूहिक खेती के प्रयोग भी करते दिखे हैं, या उना के बहाने चली जबरदस्त हलचल हो जब यह नारा उठा था कि "गाय की पूंछ तुम रखो, हमें हमारी जमीन दो।"

भीमा कोरेगांव "शौर्य स्मृति दिवस" के हुए विराट आयोजन और उसमें आम जनसाधारण की व्यापक सहभागिता, जिसमें आज के "पेशवाओं" को शिकस्त देने की उठी आवाज़ तथा उसकी प्रतिक्रिया में रूढिवादी ताकतों का संगठित हिंसाचार, हिन्दुत्ववादी संगठनों की बदहवासी भरी हरकतें इसी बात की ताज़ी मिसाल हैं।

इस समूची पृष्ठभूमि में यह अकारण नहीं कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना को "आहत भावनाओं" की दुहाई देते हुए वह दफना देना चाहते हैं, नफरत पर टिके अपने निज़ाम के लिए कुछ और पलों की गारंटी करना चाहते हैं।

राजनीति को पुनर्परिभाषित करता महार-पेशवा संघर्ष

प्रो. आनंद तेलतुम्बडे



सौ साल पहले पुणे के निकट भीमा नदी के तट पर कोरेगांव में एंग्लो-मराठा अंतिम युद्ध हुआ था। इससे भारत में ब्रिटिश हुकूमत की मजबूत पकड़ का पता चला। ब्रिटिश हुकूमरान ने युद्ध में मारे गए लोगों की स्मृति में युद्ध मैदान पर स्मारक-स्तंभ का निर्माण करा दिया था। इस स्तंभ पर 49 नाम उकेरे गए जिनमें से 27 महार जाति से थे। महार सैनिकों की वीरता की इस गाथा का गोपाल बाबा वाल्मंगकर, शिवराम जनबा कांबले के साथ ही बीआर अंबेडकर के पिता रामजी अंबेडकर जैसे अग्रणी पंक्ति के महार नेताओं ने ब्रिटिश सेना में महारों की फिर से भर्ती शुरू करने की मांग करते हुए बखान किया। गौरतलब है कि महारों की ब्रिटिश सेना में भर्ती 1893 में रोक दी गई थी। दरअसल, 1857 में विद्रोह की समीक्षा करने के बाद ब्रिटिश हुकूमरान ने सेना में भर्ती के तौर-तरीकों को बदला। फैसला किया कि सेना में केवल “मार्शल कौम” के लोगों की भर्ती की जाएगी। इस क्रम में महार जाति की सेना में भर्ती रोक दी गई थी। लेकिन बाबा साहब अम्बेडकर भीमा कोरेगांव युद्ध को पेशवा शासन में जाति-उत्पीड़न के खिलाफ महार सैनिकों की लड़ाई के तौर पर पेश कर रहे थे, तो एक कहानी गढ़ रहे थे। चूंकि ऐसी कहानियों से ही आंदोलन उभरते हैं, इसलिए उन्होंने शायद यह जरूरत भांप ली थी। एक सदी पश्चात यह मिथ करीब-करीब इतिहास का रूप ले चुका था, और आज चिंता होती है यह देखकर कि इसके सहारे दलित पहचान के संकट का हल करने पर आमादा हैं। अनेक दलित संगठनों ने

हाल में इस युद्ध की दो सौवीं सालगिरह मनाने के लिए संयुक्त मोर्चा गठित किया ताकि नई पेशवाई यानी हिन्दुत्ववादी ताकतों की उभरती ब्राह्मणवादी हनक से लोहा लिया जा सके। मोर्चा ने लंबी यात्राएं निकालीं। ये मार्च 31 बीती दिसम्बर को पुणे के शनिवारवाड़ा पहुंच कर सम्मेलन (एल्गर परिषद) में तब्दील हो गए। हिन्दुत्ववादी ताकतों के खिलाफ मोर्चाबंदी गलत नहीं, लेकिन किसी मिथ का इस कार्य में इस्तेमाल किया जाए तो परिणाम प्रतिगामी हो सकते हैं। ऐसी कवायद नकारात्मक रुझानों को मजबूत करती है, न कि किसी पहचान की गरिमा को।

जहां तक इतिहास की बात है, तो तथ्य है कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने सैन्य मंसूबे पूरा करने की ठानी तो बेहिसाब संख्या में दलितों को सेना में भर्ती कर लिया। शायद उनकी अटूट निष्ठा और स्वामिभक्ति को देखकर। संभवतः इसलिए भी कि वे सस्ते में मिल जाते थे। उस दौर में सेना में बड़ी संख्या में बंगाल से नामशूदों, मद्रास से परायसों और महाराष्ट्र से महारों की भर्ती हुई। ऐसे में दलित दावा करें कि भारत में ब्रिटिश राज में सत्ता प्रतिष्ठान के लिए उन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया था, तो कुछ गलत नहीं है, लेकिन यह कहें कि जाति-उत्पीड़न के खिलाफ लड़े थे, तो इसे ऐतिहासिक तथ्य तो नहीं ही कहा जा सकता।

जाति या धर्म विरोधी नहीं थे वे युद्ध

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अनेक युद्ध लड़े और जीते। पहला था, पलासी में 1757 का युद्ध। अंतिम था एंग्लो-मराठा युद्ध। जाहिर है कि ये सभी युद्ध पेशवाओं के खिलाफ नहीं थे। इनमें से अधिकांश हिन्दुओं के खिलाफ भी नहीं थे। ये सीधे-सीधे शासन करने वाली दो ताकतों के बीच थे, जो उनके सैनिकों ने अपने सैनिक फर्ज के चलते लड़े थे। इन युद्धों को जाति-विरोधी या धर्म-विरोधी करार दिया जाना गलत तय पेश करना है। इतना ही नहीं, बल्कि जातियों के इतिहास की समझ न होने जैसा भी यह होगा। जाति 19वीं सदी के काफी बाद तक, जब दलितों में शिक्षा का उल्लेखनीय प्रसार हो चुका था, लोगों के रोजमर्रा के जीवन में महत्वपूर्ण हिस्सा थी। दलित इसे किस्मत की बात मानते थे, और इसके नाम पर की गई किसी भी ज्यादती को भाग्य के रूप में देखते थे। जातीय आधार पर होने वाली ज्यादती को नियति समझते थे। इसलिए जाति के नाम पर उस दौर में विरोध नहीं हो सकता था, शारीरिक रूप से युद्ध करना तो बहुत दूर की बात थी। 1818 में वीरता के मिथक के बावजूद दलितों द्वारा उग्र विरोध का ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं मिलता जो ब्राह्मण राज के उत्पीड़न के खिलाफ हुआ हो।

युद्ध करने के लिए सेनाएं गठित करने की जहां तक बात है, तो ऐसी सेनाएं पूरी तरह से सामुदायिक आधार पर गठित नहीं की जाती थीं। भले ही ब्रिटिश सेना में दलित सैनिक अनुपात में ज्यादा थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि ब्रिटिश सेना में मुस्लिम या मराठा नहीं थे। सेना में सभी जातियों के लोग शामिल थे। कोरेगांव युद्ध में पेशवाई सेना में तीन हिस्सा अरब सैनिक थे। बताया जाता है कि वे पूरी आक्रामकता से लड़े थे। इस युद्ध में काफी लोग हताहत हुए थे। उनकी आक्रामकता की क्या प्रेरणा रही होगी? क्या वे चाहते थे कि पेशवा का ब्राह्मणराज वाला शासन विजयी हो? तय यह है कि वे सैनिक के रूप में अपने स्वामियों के लिए लड़े। वैसे ही दलित सैनिक भी अपने स्वामियों के लिए लड़े। इससे ज्यादा कोई नतीजा निकाल जाना बेमानी है।

एक जनवरी, 1818 को कोरेगांव युद्ध से पूर्व पेशवा पूर्व में लड़े जा चुके दो एंग्लो-मराठा युद्धों के कारण खासे कमजोर हो चुके थे। तथ्य तो यह है कि पेशवाक बाजीराव द्वितीय पुणे छोड़कर भाग निकले थे

और पुणे पर बाहर से आक्रमण करने का प्रयास कर रहे थे। पेशवा की सेना में 20,000 सैनिक थे और इनमें 8,000 लड़ाकू सैनिक। लड़ाकू सैनिक तीन दस्तों में बंटे थे, जिनमें दो-दो हजार की संख्या में सैनिक शामिल थे। छह सौ अरबी सैनिकों, गोसाइयों और अन्य सैनिकों ने पहले पहल हमला बोला। हमलावरों में अधिकांश अरबी थे, जिन्हें पेशवा सैनिकों में योद्धाओं के रूप में देखा जाता था। कंपनी के दस्तों में 834 सैनिक थे, जिनमें वे पांच सौ सैनिक भी शामिल थे, जो बांबे नेटिव इन्फैंट्री की पहली रेजिमेंट की दो बटालियनों से थे। इनमें से अधिकांश महार थे। हालांकि ऐसा कोई दस्तावेजी रिकॉर्ड नहीं मिलता कि इनकी सटीक संख्या कितनी थी। लेकिन इतना साफ है कि ये सभी महार नहीं थे। युद्ध में मारे गए सैनिकों की संख्या से भी अंदाजा लगाएं तो पता चलता है कि मरने वाले सैनिकों में से अधिकांश महार (49 में से 27) नहीं थे। आखिर में पेशवा की सेना पीछे हट गई थी। दरअसल, जनरल जोसेफ स्मिथ के नेतृत्व में बड़ी संख्या में ब्रिटिश सैनिकों के पहुंच जाने पर पेशवा की सेना ने पीछे हटने का फैसला किया। इन तथ्यात्मक ब्योरों के मददेनजर निष्कर्ष निकाला जाना भ्रामक हो सकता है कि यह युद्ध महारों ने पेशवाओं के ब्राह्मणराज के खिलाफ प्रतिरोध स्वरूप लड़ा था।

कहां बदले महारों के हालात?

ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पेशवाई शिकस्त के बाद महारों को कोई राहत मिली हो बल्कि तय तो यह है कि उनका जातीय उत्पीड़न बिना रुके जारी रहा बल्कि ब्रिटिश हुकमरानों ने सेना में उनकी भर्ती तक रोक दी थी। पूर्व में उनके द्वारा दिखाई बहादुरी को अनदेखा कर दिया था। भर्ती के लिए महारों की बार-बार की गुहारों तक को नहीं सुना। यह तो प्रथम विश्व युद्ध ने दस्तक दे दी थी जो ब्रिटिश हुकमरानों को महारों के लिए सेना में भर्ती खोलनी पड़ी।

बेशक, कहा जा सकता है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से दलितों को अनेक फायदे मिले। यहां तक कि दलित आंदोलन उसी दौर की पैदाइश है। लेकिन यहां इस तथ्य को समझे जाने की जरूरत है कि बुनियादी रूप से यह घटनाक्रम भी औपनिवेशिक तकाजों को पूरा करने वाला ही था। दुखद है कि दलित इस सच्चाई से आंखें मूंदे हुए हैं, और इसे पहचान के चश्मे से देख रहे हैं। यह कहना भी गलत है कि चूंकि पेशवाई सेना मराठी सैनिकों की बहुलता वाली थी, तो राष्ट्रवादी थी और ब्रिटिश सेना को हराना साम्राज्यवादियों की शिकस्त जैसा कुछ था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर राष्ट्र के अस्तित्व को नकारने वाले चश्मों से देखा जाना भी निंदनीय है।

सच तो यह है कि उस समय भारत राष्ट्र की कोई अवधारणा नहीं थी और आज भी यह अवधारणा भ्रमित करने वाली ही है। कितना विरोधाभासी है यह कि ब्रिटिश शासन से भारत उपहार में मिला है, जिसके विशाल भूक्षेत्र वाले उपमहाद्वीपीय इलाके को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोया गया। राष्ट्र के रूप इसकी व्याख्या निजी फायदों के आधार पर की जाती रही है। सच तो यह है कि ऐसे लोग पेशवाओं जितने ही भ्रमित हैं और सबसे बड़े देशद्रोही भी। दलितों को हिन्दुत्वादी उपद्रवियों द्वारा फिर से तैयार पेशवाई के खिलाफ लड़ने की जरूरत है। जरूरी है कि वे सच्चाई से आंखें न मूंदें। खुली आंखों वस्तुस्थिति का आकलन करें। शत्रुमुर्ग जैसा रवैया न अपनाएं। मिथकीय अतीत में न झांके। महानता के कल्पनालोक में गुम होकर न रह जाएं।

(साभार: मीडियाविजिल)

कासगंज की आग और अराजकता का अपराध शास्त्र

विकास नारायण राय



करणी सेना या गौ गुंडई को दैनिक जीवन में प्रश्रय देने वाला समाज, एक दिन कासगंज जैसे वीभत्स सांप्रदायिक दंगों या फरीदाबाद-गुडगाँव मार्का सड़क छाप बलात्कारों को भुगतने को अभिशापित रहेगा। अपराध शास्त्र बताता है कि छोटे-मोटे अपराधों की शकल में पनपती अव्यवस्था अंततः गंभीर अपराधों की नर्सरी का काम करेगी। आप अपनी गली को गन्दा रहने देंगे तो वहां कूड़े का ढेर लगाने वालों को प्रोत्साहन मिलेगा ही।

कासगंज में भगवा राष्ट्रवाद का झंडा उठाये मोटर साइकिलों पर दनदनाते युवा साम्प्रदायिक हिंसा के उत्प्रेरक रहे। जाहिर है, इस शहर में जुलूसों की पूर्व अनुमति का सामान्य-सा प्रशासनिक रिवाज लागू नहीं किया गया था। वहां के पुराने निवासियों के अनुसार, एक लाख की मिश्रित आबादी के इस छोटे से शहर में ऐसे सांप्रदायिक विस्फोट का होना उनकी याददाश्त में नहीं है।

फरीदाबाद और गुडगाँव बड़े शहर हैं लेकिन गत दिनों वहाँ हुए सड़क छाप दुस्साहसी बलात्कारों को अनहोनी की श्रेणी में ही रखा जाएगा। फरीदाबाद में सरे-शाम राष्ट्रीय राजमार्ग के एक व्यस्ततम चौक से लगती गली में काम से लौटती लड़की को चार मुस्टंडों ने अपनी गाड़ी में खींच लिया था। इसी तरह गुडगाँव में रोड-रेज के दौरान मार-पीट का शिकार होने वालों की सह-यात्री महिला को बलात्कार का निशाना बनाया गया। देश की राजधानी के इन उपग्रह शहरों में ट्रैफिक अनुशासनहीनता और अतिक्रमण की मारी सड़कें एक बेलगाम समाज का मौंताज लगती हैं।

कासगंज हिंसा को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने राज्य के लिए कलंक कहा जबकि हरियाणा के मुख्यमंत्री ने तो बलात्कार के किन्हीं मामलों में फाँसी देने तक का कानून बनाने का विकल्प दोहराया। यहाँ तक कि योगी आदित्यनाथ जैसे दंगाई पृष्ठभूमि के मुख्यमंत्री ने भी अराजकता को सख्ती से दबाने की बात की है। बेशक, इन महानुभावों की प्रशासनिक हताशा में उनकी अपनी पार्टी की कुंठित राजनीति की भी भूमिका देखी जा सकती है। लेकिन, राष्ट्रवादी जुलूस या अस्त-व्यस्त राजमार्ग के सनसनीखेज अपराध का स्रोत बन जाने पर समाज शास्त्रीय नजरिये से शायद ही, मीडिया समेत किसी भी आम या खास स्तर पर, विमर्श हुआ हो।

अस्सी के दशक में अमेरिकी समाजशास्त्रियों जेम्सविल्सन और जॉर्ज कॅलिंगने छोटी-छोटी अव्यवस्थाओं के बड़े अपराधों में बदल जाने की परिघटना को 'टूटी खिड़कियों' के रूपक से बयान किया। उनके 'टूटी खिड़कियों का सिद्धांत' के अनुसार, कहीं भी अव्यवस्था दिखते रहने से असामाजिक तत्वों और अपराधियों को ग़लत काम करने के लिए मनोबल मिलता है और जुर्म बढ़ता है। जबकि, अगर शहर को सुव्यवस्थित और साफ़-सुथरा रखा जाए तो जुर्म भी कम होने लगते हैं।

1970 और 1980 के दशकों में न्यूयॉर्क में बहुत हिंसात्मक जुर्म होते थे। लोगों में खौफ़ का माहौल था। रेल यातायात जो इस शहर के रोज़मर्रा जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है, वहाँ भी अक्सर गुंडागर्दी के हादसे होते थे। सन् 1985 में जॉर्जकॅलिंग को न्यूयॉर्क के नगर यातायात प्राधिकरण ने सलाहकार नियुक्त किया। उस समय इस शहर के रेलवे स्टेशनों की दीवारों पर और रेल के डब्बों के अन्दर असामाजिक लोगों ने तरह-तरह की आपत्तिजनक बातें लिखना और अक्सर अपने गिरोहों से सम्बंधित नारे या चित्र बनाना आम आदत में शुमार किया हुआ था। लोग रेल स्टेशनों पर, या डब्बों के अन्दर, पेशाब तक कर दिया करते थे। 1984 से 1990 तक इन सभी लिखाइयों को अभियान चलाकर साफ़ किया गया। 1990 में ऐलान किया गया कि रेल पर किसी को भी बिना-टिकट नहीं जाने दिया जाएगा, हालांकि तब लोग अक्सर बिना टिकट लिए रेल पर चढ़ जाया करते थे। उस समय शहर की पुलिस क़त्ल और चोरियों से निबटने में बेहद व्यस्त रहती थी। बहुत से लोगों ने इस ऐलान की निंदा की और कहा कि ऐसे अपराध-पूर्ण वातावरण में पुलिस को यह एक और गैर-ज़रूरी काम देना मूर्खता ही है। फिर भी शहर की सरकार डट गई और उसने बेटिकट यात्रियों पर सख्त जुर्माना करना शुरू कर दिया। 2001 में पाया गया कि न्यूयॉर्क में न सिर्फ़ रेल-सम्बन्धी अपराध बहुत कम हुए बल्कि क़त्ल और चोरी भी बहुत कम होने लगी। अगले दस सालों तक शहर में जुर्म लगातार कम होता गया।

सार्वजनिक शौचालय अक्सर गंदे होते हैं। लेकिन समाजशास्त्रियों ने अध्ययन पर पाया है कि जो शौचालय पहले से साफ़ हों उन्हें प्रयोग करने वाले भी कम गन्दा करते हैं। यानी कि जिन शौचालयों को ज़रा सा भी गन्दा होने पर फ़ौरन साफ़ कर दिया जाए उन्हें कम बार साफ़ करने की ज़रूरत होती है क्योंकि प्रयोग करने वालों को एक स्पष्ट संकेत जाता है कि उनमें गंदगी करना स्वीकार्य नहीं है। इसी तरह, जुर्म करने में छूट को लेकर लोग तब निरुत्साहित होंगे ही जब छोटी-मोटी अराजकता को भी स्वीकार नहीं किया जाएगा। ऐसी व्यवस्था में स्थिति हमेशा नियंत्रण में दिखती है और उसे अशांत करने वाले पहले सौ बार सोचते हैं।

कुछ हद तक दिल्ली मेट्रो में भी इस अपराध शास्त्रीय समीकरण की झलक दिख जायेगी। मेट्रो स्टेशनों और ट्रेनों में, टिकट की अनिवार्यता, वृद्धों, दिव्यांगों, महिलाओं को सीट में वरीयता, आवागमन में समय-बद्धता, सटीक उद्घोषणा, निरंतर सफाई, आश्वस्त करती सुरक्षा व्यवस्था, आरामदेह वातानुकूलन, एस्कलेटर सुविधा, सजग संकेतक से बने व्यवस्थित वातावरण का असर यात्रियों के सामान्य रूप से अनुशासित

व्यवहार में भी प्रतिबिंबित होता है। आश्चर्य नहीं कि सड़क या सामान्य रेल की अपेक्षा दिल्ली मेट्रो में अपराध की दर बेहद कम है और गंभीर हिंसक अपराध लगभग नहीं होते हैं।

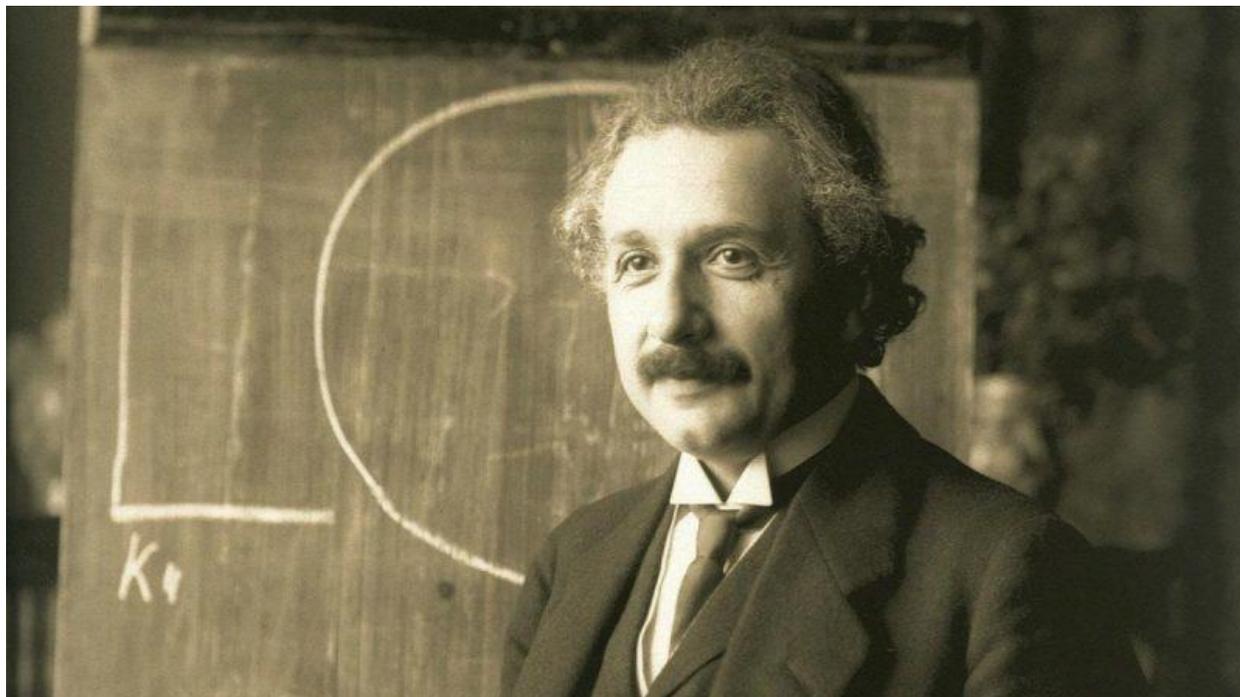
अपने पुलिस जीवन के अनुभव से मैं यह भी मानता हूँ कि न कासगंज प्रकरण में निहित स्वार्थी आयामों की तुलना दिल्ली मेट्रो की निरपेक्ष स्थिति से की जा सकती है और न फरीदाबाद-गुडगाँव राजमार्गों के जटिल प्रशासनिक आयामों को मेट्रो के एक-दर्रा परिचालन के नजरिये से देखा जाना चाहिए। लेकिन यह कोई कारण नहीं कि अपराध शास्त्रीय आकलन पर ध्यान ही न जाये। अन्यथा हम दंगों और बलात्कारों की तात्कालिक जवाबदेही में ही उलझे रह जायेंगे, यानी जुर्म की परिणति पर सक्रिय होंगे बजाय उस प्रक्रिया पर ध्यान देने के जो जुर्म की परिणति तक ले जाती है।

अकेले फरीदाबाद में पिछले तीन वर्षों में 12 वर्ष से कम उम्र की 59 बालिकाएं बलात्कार का शिकार हुयी हैं। अपवाद छोड़कर ये सभी बर्बर अपराध गंदी-अव्यवस्थित झुग्गी बस्तियों में हुए। वहां का निगरानी रहित अराजक वातावरण संभावित यौन अपराधियों के लिए सबसे बड़ा उत्प्रेरक है। इन्हीं दिनों हरियाणा राज्य के ही एक अन्य शहर यमुना नगर में एक पब्लिक स्कूल के कक्षा 12 के छात्र ने अपने पिता की रिवाल्वर से प्रिंसिपल की हत्या उनके ऑफिस में ही कर दी। उस स्कूल में छात्रों का नियम विरुद्ध मोटर साइकिल पर आना और परस्पर हाथापाई करना आम बात थी। यह वातावरण मानो किसी अनहोनी की बाट ही जोह रहा था।

कासगंज का भड़काऊ जलूस और फरीदाबाद-गुडगाँव के सड़क छाप शोहदे मात्र बुरा स्वप्न नहीं हैं। ये फिर-फिर लौट कर आयेंगे। कितनी भी प्रशासनिक सख्ती बरसने से ये रुकने वाले नहीं। इन गंभीर प्रकरणों में क्रमशः योगी और खट्टर सरकार ने चंद स्थानीय पुलिस अफसरों को बदला है। विपक्ष भी और मीडिया भी इसी परिप्रेक्ष्य तक सीमित रहे हैं। जबकि यदि दैनिक अराजकता के लिए जिम्मेदार कारक चिह्नित किये जा सकें तो बड़ी जवाबदेही नीति निर्धारकों, योजनाकारों और प्रशासनिक नेतृत्व की बनेगी। तब दैनिक अराजकता से निपटने की कारगर प्रणाली होने से गंभीर अपराधों की रोकथाम का कार्यभार स्वतः संपन्न हो रहा होगा।

समाजवाद क्यों?

अलबर्ट आइंस्टीन



क्या किसी ऐसे व्यक्ति के लिए समाजवाद के विषय पर विचार व्यक्त करना उचित है कि जो आर्थिक और सामाजिक मुद्दों का विशेषज्ञ नहीं है? मैं यह मानता हूँ कि अनेक कारणों की वजह से यह (उचित) है। हमें इस प्रश्न पर पहले वैज्ञानिक ज्ञान की दृष्टि से विचार करना चाहिए। ऐसा प्रकट हो सकता है कि खगोल विज्ञान और अर्थशास्त्र के बीच कोई प्रणाली संबंधी मौलिक अंतर नहीं है: वैज्ञानिक दोनों क्षेत्रों में तथ्यों के एक सीमित समूह के लिए सामान्य स्वीकार्यता के कानूनों को खोजने का प्रयास करते हैं ताकि वे इन तथ्यों के एक दूसरे के संबंध को संभव रूप से ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट बना सकें।

लेकिन वास्तव में ऐसे प्रणाली संबंधी अंतर मौजूद हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सामान्य कानूनों की खोज उस हालत से मुश्किल बना दी जाती है जिस का मानना है कि आर्थिक तथ्य अक्सर उन बहुत से कारकों से प्रभावित होते हैं जिन का अलग से मूल्यांकन करना बहुत कठिन है। इसके अलावा, मानव इतिहास के तथाकथित सभ्य अवधि की शुरुआत से जमा किया गया अनुभव, जैसा कि अच्छी तरह से ज्ञात है, काफी हद तक उन कारणों से प्रभावित और सीमित किया गया है जो किसी भी तरह से प्रकृति में पूरी तरह से आर्थिक नहीं रहे हैं। उदाहरणतः इतिहास के प्रमुख राज्यों में से अक्सर अपने अस्तित्व के प्रति विजय के आभारी हैं। जीतने वाले लोगों ने, कानूनी और आर्थिक रूप से, स्वयं को विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के रूप में स्थापित किया। उन्होंने खुद के लिए भूमि स्वामित्व का एकाधिकार जब्त कर लिया और अपने स्वयं के वर्गों के बीच से ही एक पुजारी नियुक्त किया।

पुजारियों ने, शिक्षा के नियंत्रण में, समाज के वर्ग विभाजन को एक स्थायी संस्था बना दिया और मूल्यों का एक ऐसा सिस्टम बनाया जिस के द्वारा लोग उस समय, एक बड़ी हद तक अनजाने में, अपने सामाजिक व्यवहार में निर्देशित किए गए। लेकिन ऐतिहासिक परंपरा, ऐसा कहना है, तो कल की बात है;

कहीं भी नहीं हम वास्तव में उस चीज को हरा सके जिसे थोर्सटेन वेब्लेन (Thorstein Veblen) ने मानव विकास का "हिंसक चरण" कहा है। पालनीय आर्थिक तथ्यों का संबन्ध उसी चरण से है और इस तरह के कानून जैसा कि हम उन से प्राप्त कर सकते हैं वे अन्य चरणों में लागू होने योग्य नहीं हैं। क्योंकि समाजवाद का वास्तविक उद्देश्य निश्चित रूप से मानव विकास के हिंसक चरण को पराजित करना और उस से परे अग्रिम करना है, आर्थिक विज्ञान अपनी वर्तमान स्थिति में भविष्य के समाजवादी समाज पर थोड़ा प्रकाश डाल सकता है।

दूसरी बात, समाजवाद एक सामाजिक-नैतिक उद्देश्य की ओर निर्देशित किया जाता है। विज्ञान, तथापि, उद्देश्यों को बना नहीं सकता है, और इस से भी कम, मनुष्य के मन में उन्हें बैठा नहीं सकता; विज्ञान, ज्यादा से ज्यादा, कुछ उद्देश्यों को प्राप्त करने का साधन आपूर्ति कर सकता है। लेकिन उद्देश्य खुद उन हस्तियों द्वारा नियोजित किए जाते हैं जो बुलंद नैतिक आदर्शों वाले हैं और - अगर यह उद्देश्य मृत पैदा हुए हैं, लेकिन महत्वपूर्ण और सशक्त हैं - वे उन बहुत से मनुष्यों द्वारा अपनाये और आगे बढ़ाए जाते हैं, जो नीम अनजाने में, समाज के धीमी विकास का निर्धारण करते हैं। इन्हीं कारणों के नाते, जब मानव समस्याओं का सवाल हो तो हमें विज्ञान और वैज्ञानिक तरीकों का वास्तविकता से अधिक समझने में सावधानी बरतनी चाहिए; और हमें यह नहीं मानना चाहिए कि विशेषज्ञ ही वे लोग हैं केवल जिन को समाज के संगठन को प्रभावित करने वाले सवालों पर खुद को अभिव्यक्त करने का अधिकार है।

कुछ समय से असंख्य आवाजें जोर देकर कह रही हैं कि मानव समाज एक संकट से गुजर रहा है, यह कि उस की स्थिरता गंभीर रूप से बिखर गई है। इस प्रकार की स्थिति की यह विशेषता है कि लोग व्यक्तिगत स्तर पर उस समूह, छोटा या बड़ा, के प्रति उदासीन या शत्रुतापूर्ण भाव रखते हैं जिस से उन का संबंध होता है। अपने अर्थ का वर्णन करने के लिए, मुझे यहाँ एक व्यक्तिगत अनुभव रिकॉर्ड करने दें। मैं ने हाल ही में एक बुद्धिमान और दोस्ताना व्यवहार रखने वाले आदमी के साथ एक और युद्ध के खतरे पर चर्चा की, जो मेरी राय में गंभीर रूप से मानव जाति का अस्तित्व खतरे में डाल दे गी, और मैं ने टिप्पणी की कि एक पूर्व-राष्ट्रीय संगठन उस खतरे से सुरक्षा प्रदान करेगा। उस पर मुझ से मिलने वाले ने, बहुत शांति और ठंडे दिमाग से, मुझ से कहा: "तुम मानव जाति के लापता होने के इतना ज्यादा विरुद्ध क्यों हो?"

मुझे यकीन है कि केवल एक सदी पहले ही किसी ने भी इतने हल्के ढंग से इस तरह का कोई बयान नहीं दिया होता। यह एक ऐसे व्यक्ति का बयान है जिस ने खुद के भीतर एक संतुलन प्राप्त करने के लिए व्यर्थ में कड़ी मेहनत की है और सफलता पाने की आशा करीब करीब खो चुका है। यह एक ऐसी दर्द भरे एकांत और अलगाव का कथन है जिस से बहुत सारे लोग पीड़ित हैं। कारण क्या है? क्या इस से बाहर निकलने का कोई रास्ता है? इस प्रकार के सवाल उठाना आसान है, परन्तु कुछ आश्वासन के साथ उन का उत्तर देना मुश्किल है। मुझे, फिर भी, जितनी अच्छी तरह मैं कर सकता हूँ, कोशिश अवश्य करनी चाहिए, हालांकि मैं इस तथ्य के बारे में बहुत सचेत हूँ कि हमारी भावनाएँ और हमारे संघर्ष अक्सर विरोधाभासी और अस्पष्ट होते हैं और यह कि उन्हें आसान और सरल विधियों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

मनुष्य, एक ही और उसी समय, एक अकेला और एक सामाजिक जीव है। एक अकेला जीव होने के रूप में, वह, अपनी निजी इच्छाओं को पूरा करने और अपने जन्मजात क्षमताओं को विकसित करने के लिए, स्वयं अपना और अपने से करीब लोगों के अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयास करता है। एक सामाजिक

जीव के रूप में, वह अपने साथी मनुष्यों के सुखों में साझा करने, उन्हें उन के दुखों में दिलासा देने, और उनके जीवन की स्थितियों में सुधार लाने के लिए, उन की मान्यता और स्नेह हासिल करना चाहता है। एक मनुष्य के विशेष चरित्र के इन विविध, अक्सर परस्पर विरोधी, संघर्ष करने वाले वर्णनों का केवल अस्तित्व, और उनके विशिष्ट संयोजन ही उस हद को निर्धारित करते हैं कि जिस तक कोई एक व्यक्ति एक आंतरिक संतुलन को हासिल कर सकता और समाज की भलाई के लिए योगदान कर सकता है।

यह बिल्कुल संभव है कि इन दो कर्मशक्तियों की सापेक्ष शक्ति, मुख्य रूप से, विरासत द्वारा तै कि जाती है। लेकिन अंत में उभर कर सामने आने वाली व्यक्तित्व का गठन काफी हद तक उस पर्यावरण जिस में कोई आदमी अपने विकास के दौरान स्वयं को पाता है, समाज के उस ढांचे जिस में वह बढ़ता है, विशेष प्रकार के आचरणों के उस समाज के मूल्यांकन द्वारा किया जाता है।

"समाज" के काल्पनिक मनोभाव का अर्थ व्यक्तिगत आदमियों के लिए अपने समकालीनों और पहली पीढ़ियों के सभी लोगों से उस के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संबंधों का कुल जोड़ है। व्यक्तिगत आदमी सोचने, महसूस करने, प्रयास करने और खुद से काम करने में सक्षम है; लेकिन वह समाज पर इतना ज्यादा निर्भर करता है - अपने शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक अस्तित्व में - कि समाज के ढांचे के बाहर उसके बारे में सोचना, या उसे समझना असंभव है। यह समाज है जो मनुष्य को भोजन, कपड़े, एक घर, काम के उपकरण, भाषा, विचार के रूप, और सोच की अधिकांश सामग्री प्रदान करता है; उस का जीवन श्रम और उन कई लाख लोगों की अतीत और वर्तमान के माध्यम से संभव बनाया जाता है जो सारे के सारे "समाज" के छोटे से शब्द के पीछे छिपे हैं।

यह, इसलिए, स्पष्ट है कि व्यक्ति की समाज पर निर्भरता प्रकृति का एक तथ्य है जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता है-ठीक उसी प्रकार जैसे कि चींटियों और मधुमक्खियों के मामले में है। फिर भी, चींटियों और मधुमक्खियों की पूरी जीवन प्रक्रिया छोटी सी छोटी बातों में कठोर, परंपरागत प्रवृत्ति द्वारा तै होती है, मनुष्य के सामाजिक पैटर्न और उस के अंतर्संबंध बहुत बदलने वाले और बदलाव के प्रति अतिसंवेदनशील होते हैं। याददाशत, नए संयोजन बनाने की क्षमता, मौखिक संचार के उपहार ने इंसान के बीच उन गतिविधियों को संभव बना दिया है जो जैविक आवश्यकताओं से निर्धारण नहीं की जाती हैं। इस प्रकार की गतिविधियां स्वयं को परंपराओं, संस्थाओं, और संगठनों; साहित्य; वैज्ञानिक और इंजीनियरिंग उपलब्धियों; कला के कामों में जाहिर करती हैं।

यह इस बात की व्याख्या करता है कि यह होता कैसे है कि, कुछ खास मामलों में, मनुष्य अपने जीवन को अपने खुद के आचरण से प्रभावित करता है, और यह कि इस प्रक्रिया में जाग्युक सोच और चाहत एक भूमिका निभा सकते हैं।

मनुष्य जन्म के समय, आनुवंशिकता के माध्यम से, उन प्राकृतिक आग्रहों सहित जो मानव प्रजाति की विशेषताएँ हैं, एक जैविक संविधान प्राप्त करता है जिसे हम को अवश्य रूप से निश्चित और अटल मानना चाहिए। इसके अलावा, अपने जीवनकाल के दौरान, वह एक सांस्कृतिक संविधान प्राप्त करता है जिस को वह समाज से संचार और कई अन्य प्रकार के प्रभावों के माध्यम से अपनाता है।

यह यही सांस्कृतिक संविधान है जो, समय के बीतने के साथ, परिवर्तन का अधीन है और जो बहुत बड़ी हद तक व्यक्ति और समाज के बीच संबंधों को निर्धारित करता है। आधुनिक नृविज्ञान ने हम को सिखाया है, तथाकथित प्रारम्भिक संस्कृतियों की तुलनात्मक जांच के माध्यम से, कि मनुष्यों का सामाजिक व्यवहार, समाज में प्रचलित सांस्कृतिक पैटर्न और संगठन के प्रकार पर निर्भर करते हुए, बहुत अलग हो सकता है। यह इसी बुनियाद पर है कि जो लोग आदमी की स्थिति सुधारने का प्रयास कर रहे

हैं वे उन की उम्मीदों को चकनाचूर कर सकते हैं: मनुष्य की, उन के जैविक संविधान के कारण, एक दूसरे का सफाया करने के लिए या एक क्रूर, आत्म प्रवृत्त भाग्य की दया पर निर्भर होने के लिए, निंदा नहीं की जाती है।

यदि हम स्वयं से पूछें कि मानव जीवन को संभव रूप से ज्यादा से ज्यादा संतोषजनक बनाने के लिए समाज और आदमी की सांस्कृतिक दृष्टिकोण की संरचना को कैसे परिवर्तित किया जाना चाहिए, तो हमें लगातार इस सत्य के प्रति जागरूक होना चाहिए कि कुछ ऐसी स्थितियां हैं जिन को हम संशोधित करने में असमर्थ हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, आदमी की जैविक प्रकृति, सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, बदलाव का पराधीन नहीं है। इसके अलावा, पिछले कुछ सदियों की तकनीकी और जनसांख्यिकीय गतिविधियों ने ऐसी स्थितियां पैदा कर दी हैं जो बाकी रहने वाली हैं। किसी अपेक्षाकृत घनी बसी आबादी में जो उन सामानों के साथ हो जो लोगों के जारी अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं, श्रम और अत्यधिक केंद्रीकृत उत्पादक तंत्र के बीच विभाजन बिल्कुल जरूरी हैं।

समय - जो, पीछे मुड़कर देखें, तो इतना सुखद लगता है - हमेशा के लिए चला गया है जब व्यक्ति या अपेक्षाकृत छोटे समूह पूरी तरह से आत्मनिर्भर हो सकता हैं। यह कहना केवल एक मामूली अतिशयोक्ति है कि मानव जाति अब भी उत्पादन और खपत का एक ग्रहों का समुदाय ही है।

मैं अब उस बिंदु पर पहुंच गया हूं कि जहां मैं संक्षिप्त संकेत कर सकता हूं कि मेरे नजदीक हमारे समय के संकट की बुनियाद क्या है। यह व्यक्ति के समाज से संबंध का सवाल है। व्यक्ति हमेशा की तुलना में समाज पर अपनी निर्भरता के बारे में पहले से कहीं अधिक जागरूक हो गया। परन्तु वह इस आजादी को सकारात्मक संपत्ति, एक कार्बनिक संबंध, एक सुरक्षा बल के रूप में नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक अधिकारों, या अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए एक खतरे के रूप में, भुगतता करता है। इसके अलावा, समाज में उसकी स्थिति ऐसे है जैसे कि उस की बनावट की अहंकारी कर्मशक्तियां लगातार बढ़ाई जा रही हैं, जबकि उसकी सामाजिक कर्मशक्तियां, जो प्राकृतिकतः अधिक कमजोर हैं, वह उत्तरोत्तर बिगड़ रही हैं। सारे मनुष्य, समाज में उनकी स्थिति जो भी हो, गिरावट की इस प्रक्रिया से पीड़ित हैं। अनजाने में अपने स्वयं के अहंकार के कैदी, वे असुरक्षित, अकेला, और जीवन की भोली, सरल, और अपरिष्कृत आनंद से वंचित महसूस करते हैं। मनुष्य जीवन में अर्थ, लघु और खतरनाक जैसा कि यह है, केवल स्वयं को समाज के लिए वक्फ कर के ही पा सकता है।

पूंजीवादी समाज की आर्थिक अराजकता जैसा कि यह आज है, मेरी राय में, बुराई का असली स्रोत है। हम अपने सामने उत्पादकों का एक बड़ा समुदाय देखते हैं जिस के सदस्य लगातार एक दूसरे को अपने सामूहिक श्रम के फल से वंचित रखने का प्रयास कर रहे हैं- बल के द्धारा नहीं, बल्कि कुल मिला कर कानूनी तौर पर स्थापित नियमों के साथ वफादार अनुपालन में। इस संबंध में, यह महसूस करना महत्वपूर्ण है कि उत्पादन के साधन - यानी, उपभोक्ता वस्तुओं और इसी प्रकार से अतिरिक्त पूंजी के सामान में जरूरत पड़ने वाली पूरी उत्पादक क्षमता - कानूनी तौर पर हो सकती है, और अधिकांश, व्यक्तियों की निजी संपत्ति हैं।

सादगी के लिए, आने वाले चर्चा में मैं "श्रमिका" उन तमाम लोगों को कहूंगा जिन का उत्पादन के साधनों की स्वामित्व में हिस्सा नहीं है- हालांकि यह शब्द प्रचलित उपयोग के अनुरूप नहीं है। उत्पादन के साधनों का मालिक मजदूर की श्रम शक्ति को खरीदने की स्थिति में है। उत्पादन के साधनों का उपयोग करके, कार्यकर्ता नये माल पैदा करता है जो पूंजीवादियों की संपत्ति बन जाते हैं। इस प्रक्रिया के बारे में आवश्यक बिंदु है कि कार्यकर्ता क्या पैदा करता है और उस को क्या भुगतान किया जाता है इन

के बीच संबंध, दोनों वास्तविक मूल्य के संदर्भ में मापे जाते हैं। जहाँ तक यह बात है कि श्रम अनुबंध "मुक्त," है जो चीज कार्यकर्ता पाता है उस को उन वस्तुओं की वास्तविक मूल्य से निर्धारित नहीं किया जाता है जिन का वह उत्पादन करता है, बल्कि उस की न्यूनतम आवश्यकताओं और नौकरियों के लिए मुकाबला कर रहे श्रमिकों की संख्या के संबंध में श्रम शक्ति के लिए पूंजीवादी की आवश्यकताओं के द्वारा (उस का वास्तविक मूल्य निर्धारित किया जाता है)। यह बात समझनी महत्वपूर्ण है कि सिद्धांत में भी कार्यकर्ता का भुगतान उसके उत्पाद की कीमत से निर्धारित नहीं की जाती है।

निजी पूंजी कुछ हाथों में केंद्रित रहने का अधीन है, कुछ तो पूंजीपतियों के बीच मुकाबला के कारण, और कुछ इस लिए कि तकनीकी विकास और श्रम की बढ़ती प्रभाग छोटे लोगों की कीमत पर उत्पादन की बड़ी इकाइयों के गठन को प्रोत्साहित करता है। इन विकासों का परिणाम निजी पूंजी का एक निजी पूंजी का अल्पजनाधिपत्य है जिस की भारी शक्ति को एक लोकतांत्रिक ढंग से संगठित राजनीतिक समाज द्वारा भी प्रभावी ढंग से रोका नहीं जा सकता है। यह सत्य है क्योंकि विधायी निकायों के सदस्यों का चयन राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है, जो उन निजी पूंजीपतियों द्वारा काफी हद तक वित्तपोषित या अन्यथा प्रभावित की जाती हैं, जो सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, विधायिका से मतदाताओं को अलग करते हैं। परिणाम यह है कि जनता के प्रतिनिधि वास्तव में पर्याप्त रूप से आबादी के वंचित वर्गों के हितों की रक्षा नहीं करते हैं। इसके अलावा, मौजूदा परिस्थितियों में, निजी पूंजीपती अनिवार्य रूप से, सीधे या परोक्ष तौर पर, सूचना के मुख्य स्रोत (प्रेस, रेडियो, शिक्षा) नियंत्रण करते हैं। इस प्रकार यह बेहद मुश्किल, और वास्तव में ज्यादातर मामलों में काफी असंभव है, व्यक्तिगत नागरिकों के लिए, किसी सामान्य निर्णय पर पहुंचना और अपने राजनीतिक अधिकारों का समझदारी के साथ उपयोग करना ज्यादातर मुआमलों में बिल्कुल असंभव है।

पूँजी के निजी स्वामित्व पर आधारित एक अर्थव्यवस्था में मौजूद स्थिति इस प्रकार से दो मुख्य सिद्धांतों वाली होती है: पहला, उत्पादन (पूँजी) के साधनों का निजी रूप से स्वामी बना जाता है और मालिक उनको वैसे निपटाते हैं जैसा कि वह उचित समझते हैं; दूसरा, श्रम अनुबंध स्वतंत्र होता है। बेशक, इस अर्थ में एक शुद्ध पूंजीवादी समाज जैसी कोई चीज नहीं है। विशेष रूप से, इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि कार्यकर्ताओं ने, लंबे और कड़वे राजनीतिक संघर्ष के माध्यम से, कार्यकर्ताओं की कुछ श्रेणियों के लिए "मुक्त श्रम अनुबंध" की कुछ हद तक सुधरी हुई शकल हासिल करने में सफलता प्राप्त की है। लेकिन कुल मिला कर वर्तमान दिन की अर्थव्यवस्था "शुद्ध" पूंजीवाद से ज्यादा अलग नहीं है। उत्पादन लाभ के लिए किया जाता है, उपयोग के लिए नहीं। कोई ऐसा प्रावधान नहीं है कि काम करने में सक्षम और काम करने की चाहत रखने वाले सभी लोग हमेशा रोजगार पाने की स्थिति में होंगे; एक "बेरोजगारों की सेना" लगभग हमेशा मौजूद होती है। कार्यकर्ता लगातार अपनी नौकरी खोने के डर में होते हैं। क्योंकि बेरोजगार और कम भुगतान किए जाने वाले श्रमिक एक लाभदायक बाजार प्रदान नहीं करते हैं, उपभोक्ताओं की वस्तुओं के उत्पादन सीमित हो जाते हैं, परिणाम एक बड़ी कठिनाई होता है।

तकनीकी प्रगति सभी लोगों के काम के बोझ को हल्का करने के बजाय अक्सर और ज्यादा बेरोजगारी में परिणामित होती है। लाभ की मंशा, पूंजीपतियों के बीच मुकाबला के संयोजन के साथ, उस पूंजी को जमा करने और उस के उपयोग में एक अस्थिरता के लिए जिम्मेदार है जो बढ़ते रहने वाले गंभीर उदासी की ओर ले जाती है। असीमित प्रतियोगिता श्रम की एक बड़ा बेकारी और व्यक्तियों के सामाजिक चेतना के निर्बल होने का कारण बनता है जिस का मैं ने पहले उल्लेख किया है।

व्यक्तियों की यह अपंगता मेरे विचार में पूंजीवाद की सबसे बड़ी बुराई है। हमारी पूरी शिक्षा योजना इस बुराई से ग्रस्त है। छात्र में एक अतिशयोक्ति प्रतियोगितात्मक रवैया बैठाया जाता है, जिसे अर्जनशील सफलता की अपने भविष्य के कैरियर के लिए एक तैयारी के रूप में पूजा करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता।

मैं आश्वस्त हूँ कि इन गंभीर बुराइयों को खत्म करने के लिए सिर्फ एक ही रास्ता है, अर्थात् एक समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना के माध्यम से, जिस के साथ में एक सामाजिक लक्ष्यों की ओर दिशा दी गई एक शिक्षा योजना हो। एक ऐसी अर्थव्यवस्था में, उत्पादन के साधन की स्वामित्व स्वयं समाज के हाथों में होती है और उनका एक योजनाबद्ध तरीके से उपयोग किया जाता है। एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, जो उत्पादन को समुदाय की आवश्यकताओं के समायोजित कर देती है, काम को काम करने में सक्षम सभी लोगों के बीच बांट देगी और प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे को एक आजीविका की गारंटी देगी। एक व्यक्ति की शिक्षा, उसकी खुद की जन्मजात क्षमता को बढ़ावा देने के अलावा, उस के भीतर हमारे वर्तमान समाज में स्तुति, शक्ति और सफलता के स्थान पर अपने साथी लोगों के प्रति जिम्मेदारी की भावना विकसित करने का प्रयास करेगी।

फिर भी, यह याद करना आवश्यक है कि एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था फिर भी समाजवाद नहीं है। एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, यथार्थ, के साथ एक व्यक्ति की पूरी दासता हो सकती है। समाजवाद की उपलब्धि को कुछ बेहद मुश्किल सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के समाधान की आवश्यकता है: राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के दूरगामी केंद्रीकरण को देखते हुए, नौकरशाही को सर्वशक्तिमान और निरंकुश बनने से रोकना कैसे संभव है? कैसे व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जा सकती है और उस के साथ नौकरशाही की शक्ति के एक लोकतांत्रिक तोड़ का आश्वासन दिया जा सकता है?

समाजवाद के लक्ष्य और समस्याओं के बारे में स्पष्टता संक्रमण की हमारे युग में सबसे बड़े महत्व वाला है। क्योंकि, वर्तमान परिस्थितियों में, इन समस्याओं की मुक्त और निर्बाध चर्चा एक शक्तिशाली निषेध के दायरे में आ गया है, मेरे विचार में इस पत्रिका की नींव स्थापना एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक सेवा है।

हाशिये की बात

उड़ीसा में सामूहिक बलात्कार की शिकार लड़की द्वारा आत्महत्या?



22 जनवरी को उड़ीसा के कोरापुट जिले में एक नाबालिग दलित लड़की ने आत्महत्या कर ली। 10 अक्टूबर, 2017 को उसे सामूहिक बलात्कार का शिकार बनाया गया था। उसने सुरक्षाबलों के चार जवानों के विरुद्ध सामूहिक बलात्कार करने की शिकायत की थी। सुरक्षाबलों के जवानों के विरुद्ध शिकायत करने के बावजूद उड़ीसा की पुलिस न सिर्फ निष्क्रिय बनी रही बल्कि पीड़ित नाबालिग लड़की पर शिकायत वापस लेने के लिए लगातार दबाव डालती रही। उक्त नाबालिग लड़की अपनी आगे पढ़ाई जारी रखना चाहती थी लेकिन लगातार मीडिया में चर्चित काण्ड होने और विवादों में घिरे रहने की वजह से वह पढ़ाई जारी नहीं रख सकी। यह जानी हुई बात है कि जब आरोपी पुलिस और सुरक्षा बल के जवान होते हैं तो न सिर्फ आरोपियों को बचाने के लिए सरकारें कोशिश करती हैं बल्कि खुद पीड़ित को ही मुकदमा वापस लेने के लिए दबाव बनाती हैं, उसे ही तंग-परेशान और उत्पीड़ित करती हैं। इस मामले में भी पीड़िता के साथ ऐसा ही हुआ। उड़ीसा की राज्य सरकार और प्रशासन ने वस्तुतः पीड़ित नाबालिग बच्ची को आत्महत्या करने के लिए विवश किया है।

“यौन हिंसा और राज्य दमन के विरुद्ध महिलायें” (WSS) ने घटनाचक्र का ब्यौरा इस प्रकार दिया है: “7 नवम्बर को सरकार के मानव अधिकार सेल ने उसके पास मौजूद मेडिकल रिपोर्ट के आधार पर साक्ष्य के अभाव के कारण सामूहिक बलात्कार की संभावना से इंकार किया। घटना के 17 दिनों बाद उसे (पीड़िता को) जिला बाल कल्याण कमेटी की सुपुर्दगी में रखा गया। लड़की ने पत्रकारों और अस्पताल में उसके पास जाने वाले अन्य व्यक्तियों से बार-बार अपनी यह परेशानी बतायी कि उस पर विश्वास नहीं किया जा रहा है।

होना तो यह चाहिए था कि अपराधियों के बारे में उसके द्वारा दिये गये विवरण या यह तथ्य कि अभियुक्त वर्दीधारी हैं, की पहचान करने की कार्रवाई होती। इसके बजाय, पुलिस ने पूछताछ के लिए उसी गांव के चार लड़कों को पकड़ लिया और उनको पीटा भी। पुलिस उनमें से एक को झूठ पकड़ने के टेस्ट के लिए भुवनेश्वर में किसी अज्ञात स्थान पर भी ले गयी।

राज्य के पुलिस महानिदेशक ने मामले को रेड फ्लैग कैटेगरी के अंतर्गत सूचीबद्ध कर लिया और पुलिस के शुरुआती बयानों में यहां तक कि माओवादियों पर आरोप लगाये गये।

स्थानीय संगठनों और प्रभावित समुदाय द्वारा सुरक्षा बलों को वहां से हटाने की मांग को पूर्णतया अनसुना किया गया।

पूरी जांच के अभाव में पुलिस और प्रशासन द्वारा सामूहिक बलात्कार से इंकार करने और लम्बे समय तक देरी करने के साथ-साथ लगातार मीडिया में चल रहे प्रचार ने परिवार और समुदाय की पीड़ा और बेचैनी को अत्यधिक बढ़ा दिया। कोई भी कल्पना कर सकता है कि इससे युवा लड़की पर क्या बीती होगी?

लड़की ने 18 नवम्बर, 2017 को आत्महत्या करने का पहला प्रयास उस समय किया जब उसने आयरन की गोलियां भारी मात्रा में निगल ली थीं। तब उसे तुरंत कटक के एस.सी.बी. मेडिकल कालेज अस्पताल में ले जाया गया। उसकी मां ने जबरन नजरबंदी की शिकायत की थी और तब 27 नवम्बर को अंततः उसे अस्पताल से मुक्त किया गया। यदि सामूहिक बलात्कार नहीं हुआ होता तो पुलिस और प्रशासन को भारी सुरक्षा के अंतर्गत उसे अस्पताल में रखने की बिल्कुल जरूरत नहीं होती।

मुख्यमंत्री ने 8 नवम्बर को एक जिला जज द्वारा जांच का आदेश दिया। 6 जनवरी को न्यायिक आयोग का गठन किया गया। जांच चल रही थी।

दिसम्बर के अंत में एक बार फिर कहा कि उसे अपना मुकदमा वापस लेने के लिए वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों द्वारा घूस दी जा रही है। शायद यह उसका आखिरी सार्वजनिक बयान था। मीडिया के अनुसार, उसका आत्महत्या के बारे में नोट पुलिस के पास है।"

डब्ल्यूएसएस ने अपने बयान के अंत में यह सवाल उठाया है कि इस आत्महत्या के लिए जिम्मेदार कौन है?

इस घटना ने इसे एक बार फिर से उजागर कर दिया है कि राज्य की पुलिस और किसी भी इलाके में तैनात सुरक्षा बल महिलाओं के साथ बलात्कार सहित जो तरह-तरह के उत्पीड़न करते हैं, उन पर कोई कार्यवाही आम तौर पर नहीं होती। खासकर, जब वे समाज के दबे-कुचले तबके की महिलाओं के साथ ऐसा करते हैं तो वे निद्रवन्द होकर करते हैं। यही बलात्कार यदि समाज के कमजोर, गरीब, दलित-आदिवासी लड़की के साथ नहीं होता बल्कि किसी खाते-पीते तबके या पूंजीवादी राजनीति में दखल रखने वाले घर से सम्बन्ध रखने वाली महिला के साथ होता तो समूचे समाज में ऐसे बलात्कारियों को सजा देने की मांग जोर-शोर से उठ रही होती। वह मांग जायज होती। लेकिन जब ऐसी ही घटनायें समाज के कमजोर, गरीब, दलित-उत्पीड़ित या अल्पसंख्यक समुदायों में घटित होती हैं, तो उस पर समाज के मध्यम वर्ग या ऊपरी हिस्से का गुस्सा या विरोध उतना नहीं दिखाई देता।

इस 16 वर्षीय दलित लड़की की आत्महत्या वस्तुतः शासक वर्ग द्वारा की गयी हत्या है। ऐसी हत्याएं शासक वर्ग देश भर में हजारों तरीकों से कर रहा है। सामूहिक बलात्कार के बाद हत्याओं से समाचार भरे रहते हैं।

शासक वर्ग के प्रतिनिधि इन पर घड़ियाली आंसू बहाते रहते हैं, न्याय का नाटक करते हैं, पर स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यह परिवर्तन सिर्फ क्षणिक गुस्से में बलात्कारी को फांसी देने की मांग से नहीं होगा बल्कि अन्याय, उत्पीड़न, शोषण पर टिकी समाज व्यवस्था के विरुद्ध सामूहिक लड़ाई से होगा। पितृसत्ता के विरुद्ध लड़ाई इस व्यापक लड़ाई का हिस्सा होगी।

(साभार: नागरिक)

दो वयस्क शादी करें, तो कोई तीसरा उसमें दखल नहीं दे सकता: सुप्रीम कोर्ट

खाप पंचायत पर सुप्रीम कोर्ट ने कड़ा रुख दिखाते हुए कहा कि अगर दो वयस्क शादी करना चाहते हैं, तो कोई तीसरा व्यक्ति दखल नहीं दे सकता. अदालत ने यह स्पष्ट कर दिया कि शादी में न मां-बाप, परिवार, समाज और इसके अलावा कोई भी दखल नहीं दे सकता।

खाप पंचायत और ऑनर किलिंग के खिलाफ शक्तिवाहिनी संगठन की एक याचिका की सुनवाई करते हुए चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा ने टिप्पणी की है। इस याचिका में ऑनर किलिंग जैसे मामलों पर रोक लगाने के लिए गाइडलाइन बनाने की मांग की गई है।

शक्तिवाहिनी ने 2010 में याचिका दायर कर मांग की थी कि राज्य और केंद्र सरकार ऑनर किलिंग को रोकने का काम करें। याचिका में कहा गया था कि खाप अंतरजातीय और अंतर धार्मिक विवाह के विरोधी हैं और इसके चलते कई लोगों की हत्या भी हुई है।

हिंदुस्तान टाइम्स की खबर के अनुसार मुख्य न्यायाधीश जस्टिस दीपक मिश्रा ने कहा, 'हम यह नहीं कह सकते कि कौन-सी शादी को निरस्त है कर सकते हैं या नहीं- कौन-सी शादी अच्छी है या बुरी है. अगर दो वयस्क शादी करना चाहे तो कोई उसमें दखल नहीं दे सकता।'

खाप पंचायत की तरफ से पेश हुए वकील ने कहा कि खाप पंचायत अंतरजातीय या अंतर धार्मिक विवाह के खिलाफ नहीं बल्कि एक ही गोत्र में शादी के खिलाफ है। इस पर चीफ जस्टिस ने कहा कि वे समाज के ठेकेदार नहीं बन सकते।

खाप पंचायत की दलील पर पीठ ने साफ कर दिया है कि अगर वयस्क महिला और पुरुष शादी करना चाहते हैं, तो समाज और खाप पंचायत उसपर सवाल नहीं उठा सकती।

वरिष्ठ अधिवक्ता राजू रामचंद्रन जो ऐसे मामलों में अदालत का सहयोग कर रहे हैं, उनकी रिपोर्ट में कहा गया है कि खाप पंचायत बहुत ताकतवर है और सुप्रीम कोर्ट को इनको रोकने और नियंत्रण में करने के लिए कदम उठाना पड़ेगा।

टाइम्स ऑफ़ इंडिया के अनुसार शीर्ष अदालत का कहना है कि वे अंतरजातीय, अंतरधार्मिक या ऐसी शादियां करने वाले वाले जोड़ों की सुरक्षा के लिए एक उच्च स्तरीय पुलिस कमेटी का गठन करने की सोच रही है. यह कमेटी सुनिश्चित करेगी कि ऐसे जोड़े खाप पंचायत, परिजन और रिश्तेदारों द्वारा होने वाली हिंसा से सुरक्षित रह सके।

मालूम हो कि इस मामले में सुनवाई करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि अंतरजातीय विवाह करने वाले वयस्क पुरुष और स्त्री पर खाप पंचायतों अथवा संगठनों का किसी भी प्रकार का हमला गैरकानूनी है।

बजट में किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ राष्ट्रव्यापी अभियान का एलान

बजट पेश किए जाने के बाद अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के बैनर तले हुई प्रेस वार्ता में समर्थन मूल्य संबंधी घोषणाएं किसानों को गुमराह करने वाला सफेद झूठ बताते हुए एलान किया गया कि किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ 12 फरवरी से 19 फरवरी के बीच राष्ट्रव्यापी अभियान के तहत 1000 स्थानों पर किसान विरोधी बजट की प्रतियां जलाई जाएंगी।

पढ़िए अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति का प्रेसनोट:

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति (ए.आई.के.एस.सी.सी.) ने 2018-19 के बजट को किसानों के साथ वित्त मंत्री द्वारा किया गया भद्दा मजाक, धोखा, छलावा करार दिया है। वित्त मंत्री की घोषणाओं को सफेद झूठ एवं महज चुनावी शुगूफा बतलाया है, जिसका पर्दाफाश गांव-गांव में किया जाएगा तथा किसानों की संपूर्ण कर्जा मुक्ति और किसानों को लागत से डेढ़ गुना दाम दिलाने तथा केंद्र सरकार किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ 12 फरवरी से 19 फरवरी के बीच राष्ट्रव्यापी अभियान चलाया जाएगा। देश भर में 1000 स्थानों पर किसान विरोधी बजट की प्रतियां जलाई जाएंगी।

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के अनुसार कृषि संकट से किसानों को उबारने के लिए किसानों की संपूर्ण कर्जा मुक्ति को लेकर बजट में तो कोई प्रावधान किया ही नहीं गया है। यहां तक कि वित्त मंत्री ने किसानों की आत्महत्याओं को रोकने का उल्लेख तक करने की आवश्यकता नहीं समझी है। देश की आबादी के 65 प्रतिशत किसानों को केवल 2.36 प्रतिशत बजट उपलब्ध कराने तथा लागत से डेढ़ गुना दाम देने की घोषणा के साथ आवश्यक बजट उपलब्ध न कराने, दामों की स्थिरता के लिए बाजार में हस्तक्षेप हेतु गत वर्ष आवंटित 950 करोड़ की राशि को घटाकर 200 करोड़ किये जाने, भण्डारण, किसान पेंशन, प्राकृतिक आपदा, लागत कम करने (बीज, खाद, कीटनाशक, डीजल, पेट्रोल, बिजली, कृषि उपकरण), जलवायु परिवर्तन के लिए आवश्यक राशि आवंटित नहीं किये जाने से स्पष्ट हो गया है कि किसानों के साथ अन्याय, उपेक्षा और भेदभाव जारी है। ऐसी स्थिति में प्रधानमंत्री द्वारा किसानों की आमदनी दुगुनी करने का वायदा मात्र जुमला बनकर रह गया है। फसल बीमा के लिए आवंटित राशि, बीमा कंपनियों को लाभ देने के लिए ही आवंटित की गई है, किसानों के लिए नहीं।

एनडीए ने 2014 के चुनाव में लागत से डेढ़ गुना समर्थन मूल्य देने की घोषणा की थी लेकिन सुप्रीम कोर्ट में सरकार बाकायदा शपथपत्र देकर फरवरी 2015 में पलट गयी। कृषि मंत्री ने इस आशय का बयान जुलाई 2017 में संसद में भी दिया। गत 4 वर्षों में न्यूनतम समर्थन मूल्य में की जाने वाली औसत बढ़ोतरी से भी कम बढ़ोतरी की गई। राज्य सरकार द्वारा लागत एवं मूल्य आयोग (सीएसीपी) को की गई लागत की कीमत संबंधी अनुशंसाओं में 30 से 50 प्रतिशत तक कटौती की गई।

मंदसौर में 6 जून, 2017 को पुलिस गोलीचालन के बाद अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति का गठन किया गया। समिति में शामिल 191 किसान संगठनों द्वारा देश के 19 राज्यों में दस हजार किलोमीटर की किसान मुक्ति यात्रा किये जाने के बाद 20-21 नवंबर को नई दिल्ली में आयोजित लाखों किसानों की किसान मुक्ति संसद तथा किसान मुक्ति सम्मेलनों से पैदा हुए माहौल, किसानों की जागरूकता, देशभर में स्वतः स्फूर्त किसान आंदोलनों ने सरकार को समर्थन मूल्य के बारे में मुंह खोलने के लिए मजबूर किया। परंतु सरकार की कलाई तब खुल गई जब वित्त मंत्री द्वारा कहा गया कि उसने

रबी में ही अपने न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) वायदे को पूरा कर दिया है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि सरकार द्वारा लागत की परिभाषा ही बदल दी गई है। सरकार ने रबी में सी-2 के आधार पर लागत का आंकलन करने की बजाय ए-2 + एफएल पर आंकलन किया है। यह किसानों के साथ क्रूर मजाक है जिससे यह स्पष्ट होता है कि खरीफ में भी किसानों को स्वामीनाथन कमीशन की सिफारिशों के मुताबिक लागत से डेढ़ गुना समर्थन मूल्य नहीं मिलेगा।

सरकार एक बार फिर किसानों को बेवकूफ बनाना चाहती है। किसान संगठनों का संघर्ष डा स्वामीनाथन द्वारा की गई सिफारिश के मुताबिक किसानों को समग्र लागत की कीमत सी-2 + 50% दिलाना है जिसका वायदा प्रधानमंत्री ने सैकड़ों सभाओं में किया था।

ऐसे समय में जबकि न्यूनतम समर्थन मूल्य भी किसानों को नहीं मिल रहा है तथा अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के आंकलन के मुताबिक केवल खरीफ (2017) में न्यूनतम समर्थन मूल्य तथा बाजार मूल्य के बीच 32,700 करोड़ रुपए का अंतर पाया गया है, जिसे हम किसानों की लूट मानते हैं। बाजार के दाम और समर्थन मूल्य के अंतर को पाटने के लिए बाजार में हस्तक्षेप हेतु हजारों करोड़ के बजट की आवश्यकता थी लेकिन सरकार द्वारा यह राशि 950 करोड़ रुपए से घटाकर 200 करोड़ रुपए कर दी गयी है। सरकार ने बजट में राष्ट्रीय कृषि विकास योजना की राशि 4500 करोड़ रुपए से घटाकर 3600 करोड़ रुपए कर दी है। मनरेगा के लिए 80 हजार करोड़ की आवश्यकता थी लेकिन केवल 54 हजार करोड़ रुपया ही आवंटित किया गया है। आपदा राहत फंड में भी कटौती की गई है।

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति ने रमेश चंद्र कमेटी की सिफारिशों के आधार पर लागत की कीमत की गणना किये जाने की सरकार से मांग की है।

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति का मानना है कि किसानों के संपूर्ण कर्जा मुक्ति के लिए बजट आवंटन करने की बजाय सरकार ने उद्योगों के नॉन परफोर्मिंग एसेट को खत्म करने का बजट में वायदा किया है। गत 4 वर्षों में भी सरकार करोड़ों रुपए की छूट गिने-चुने औद्योगिक घरानों को देती रही है।

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति ने 12 फरवरी से 19 फरवरी के बीच देश भर में जनपद एवं तहसील स्तर तक उक्त मुद्दों को लेकर समिति में शामिल सभी संगठनों के द्वारा धरना-प्रदर्शन-सम्मेलन-प्रेसवार्ता-आमसभाएं आयोजित करने का ऐलान किया।

देशभर में किसान मुक्ति सम्मेलनों के पूरा हो जाने पर बजट सत्र के दौरान संपूर्ण कर्जा मुक्ति बिल एवं किसान (कृषि उपज लाभकारी मूल्य गारंटी) अधिकार बिल संसद में किसानों की ओर से पेश किया जाएगा तथा इन दोनों मुद्दों को लेकर संसद में लोकसभा अध्यक्ष को याचिका भी सौंपी जाएगी। प्रेसवार्ता को संबोधित करते हुए अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के संयोजक वी एम सिंह ने कहा कि केंद्र सरकार ने उच्चतम न्यायालय में एक हलफनामा देकर किसानों की फसल का डेढ़ गुना समर्थन मूल्य देने से इनकार किया। वहीं देशभर से लाखों किसान नवम्बर में दिल्ली पहुंचे तो सरकार ने मजबूर होकर बजट में लागत का डेढ़ गुणा समर्थन मूल्य देने की घोषणा की। परन्तु सरकार द्वारा ये केवल दुःखी अन्नदाता के साथ धोखा है, जहां फसल की लागत का रेट हर दिन बढ़ रहा है वहीं सरकार ने फर्जी आंकड़े दर्शाते हुए लागत आया रेट कम बताया जिसके कारण घोषित न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) ही लागत से डेढ़ गुना दिखाई पड़ती है और ये भी झूठ कहा कि ये स्वामीनाथन के बराबर है, क्योंकि सरकार को किसानों का पैसा देना ही नहीं है इसलिए सरकार ने फसल का डेढ़ गुना दाम देने के लिए बजट में कोई आवंटन ही नहीं किया गया।

अखिल भारतीय किसान सभा के महामंत्री, पूर्व सांसद हन्नान मौल्ला ने कहा कि मोदी सरकार की किसान विरोधी नीतियों की परिणति बजट में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है जिससे पता चलता है कि सरकार ने किसानों के साथ धोखा किया है। किसानों को सरकार अपने कार्यकाल के अंतिम वर्ष में गंभीर संकट में डालने जा रही है। कृषि वृद्धि दर मोदी सरकार के तमाम लम्बी-चौड़ी घोषणाओं के बावजूद गत दशकों में सबसे कम रह गयी है। इस किसान विरोधी बजट के चलते सरकार का जाना होना तय हो गया है। स्वाभिमानी शेतकारी के अध्यक्ष एवं सांसद राजे शेटी ने कहा कि जो सरकार किसानों के लिए बहरी बनी हुई थी, उसे हम सुनाने में कामयाब हुए। यह सरकार किसानों के लिए गूंगी बनी हुई थी, हम उसका मुंह खुलवाने में कामयाब हुए। मोदीजी ने चुनाव के मददेनजर घोषणाएं ही की हैं जिन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। क्योंकि 2014 की घोषणाएं ही अब तक पूरी नहीं की गई हैं। बजट किसानों को अपने पैर पर खड़े होने में मदद करने की बजाय उन्हें पंगु बनाने का काम कर रही है।

नर्मदा बचाओ आंदोलन-जनआंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की नेत्री मेधा पाटकर ने कहा कि बजट से कृषि संकट-किसानों की आत्महत्याओं में कमी आने की कोई संभावना नहीं है। आर्थिक विकास के जुनून में सरकार ने बजट बनाते समय समाज के किसानों, मजदूरों, आदिवासियों, दलितों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं, युवाओं सहित सभी की अनदेखी की है, बजट के बाद महंगाई, गैरबराबरी, बेरोजगारी बढ़ना तय है। सरकार ने किसानों के ऋण मुक्ति की मांग को एक सिरे से खारिज कर दिया।

जय किसान आंदोलन के नेता योगेन्द्र यादव ने कहा कि इस बजट से यह स्पष्ट हो गया है कि यह सरकार ना तो किसानों का दुख-दर्द समझती है और ना ही समझना चाहती है। उसे लगता है कि किसानों की आंख में धूल झोंक कर उन्हें हिन्दू-मुस्लिम में बांट कर वोट पाये जा सकते हैं। किसान आंदोलन अपने संघर्ष से सरकार की इस गलतफहमी को दूर करेगा। उन्होंने कहा कि बजट घोषणा के साथ 33,000 करोड़ रुपये आवंटित किए जाते तब किसानों को डेढ़ गुना मूल्य दिया जा सकता था।

किसान संघर्ष समिति के कार्यकारी अध्यक्ष, पूर्व विधायक डॉ सुनीलम ने देश भर में किसानों के बढ़ते आंदोलनों और अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति द्वारा तैयार की जा रही एकजुटता से घबरा कर किसानों संबंधी घोषणा मजबूरी में की है। लेकिन जब देश में प्रचलित समर्थन मूल्य ही नहीं दिया जा रहा तब सरकार द्वारा घोषित किए जाने वाले समर्थन मूल्य पर सभी कृषि उत्पादों की खरीद होना संभव नहीं दिखलाई पड़ता। सरकार यदि घोषणा करती कि लागत (स्वामीनाथन कमेटी की अनुशंसा के मुताबिक) से डेढ़ गुना दाम पर संपूर्ण उत्पादन की खरीद सुनिश्चित की जाएगी एवं कम दाम पर खरीद करने वाले व्यापारियों पर जुर्माना लगाकर जेल भेजा जाएगा, तब यह सोचा जा सकता था कि सरकार किसानों के लिए कुछ करना चाहती है। लेकिन सरकार ने किसानों के नाम पर चुनावी स्टंट किया है, जिसे धोखाधड़ी के अलावा कुछ और नहीं कहा जा सकता है।

एआईकेएमएस के महामंत्री डॉ आशीष मित्तल ने कहा कि वित्त मंत्री घोषणा कर रहे हैं कि कृषि उत्पादों का निर्यात बढ़ेगा लेकिन तथ्य यह है कि 2013-2014 आयात 16.5 बिलियन डॉलर से बढ़कर 2015-2016 में 21.4 बिलियन डॉलर हो गया है और निर्यात 1.37 लाख करोड़ से घटकर 1.06 लाख करोड़ हो गया है। उन्होंने पेट्रोल, डीजल की अंतरराष्ट्रीय कीमतें बताते हुए किसानों की लागत घटाने की मांग की। भारतीय किसान यूनियन (अम्बावत) के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री अम्बावत ने कहा कि मोदी सरकार ने किसानों को धोखा दिया है जिसकी कीमत उनको अगले विधानसभा चुनाव में चुकानी पड़ेगी, जैसा राजस्थान में हुआ वैसा ही पूरे देश में होगा।

वी एम सिंह
संयोजक, अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति
अविक साहा, सचिवालय प्रभारी

(साभार: संघर्ष संवाद)

चुनाव से पहले आरएसएस की नगा संधि पर उत्तर-पूर्व में असंतोष, दो जानें गईं



असम के दीमा हसाओ जिले में पुलिस फायरिंग के दौरान जनवरी के अंतिम सप्ताह में दो युवाओं की मौत के बाद यहां लोगों ने गणतंत्र दिवस को काला दिवस के रूप में मनाया। एक दिन पहले 25 जनवरी को यहां कई संगठनों ने नगा समझौते के आरएसएस द्वारा तैयार किए गए मसौदे के खिलाफ 12 घंटे के बंद का आह्वान किया था। माइबांग रेलवे स्टेशन पर जब प्रदर्शनकारियों ने रेल पटरियों को बाधित करने की कोशिश की तो पुलिस ने उनके ऊपर गोली चला दी। गोली दो युवाओं को लगी।

मिथुन दिब्रागेड़ा (27) और प्रबान्त हकमाओसा (17) को गोली लगने के बाद गोहाटी मेडिकल कॉलेज अस्पताल ले जाया गया। मिथुन की रास्ते में मौत हो गई जबकि प्रबान्त की मौत 26 जनवरी की सुबह हुई। इसके विरोध में दीमा हसाओ के लोगों ने 26 जनवरी को काला दिवस मनाने का एलान किया था। जिला प्रशासन ने स्थिति को नियंत्रण में लाने के लिए कर्फ्यू लगा दिया।

[दि सिटिजन में इस संबंध में छपी एक रिपोर्ट](#) में गायक और एक्टिविस्ट डेनियल लांग्थासा के हवाले से कहा गया है, "कर्णी सेना, शिव सेना, बजरंग दल, आरएसएस देश भर में बॉलीवुड की फिल्मों, पाकिस्तान की क्रिकेट टीम, वैंलैटाइन डे, बीफ और ऐसे ही वाहियात कारणों से सावजनिक संपत्ति को नुकसान पहुंचाते हैं। जब असम के माइबांग कस्बे के नागरिक सरकार से जवाब मांगने के लिए और नगालिम के दायरे से असम को हटवाने के लिए एकाध घंटे कोई ट्रेन रोक देते हैं, जो मसला आरएसएस के एक सदस्य के गैर-जिम्मेदार बयानों के कारण सांप्रदायिक तनाव पैदा कर रहा है, तो पुलिस गोली चला देती है और निर्दोष औरतों, बच्चों व पुरुषों को ज़ख्मी कर देती और जान ले लेती है। यह गणतंत्र दिवस मेरा नहीं है।"

आरएसएस के नेता जगदम्बा मल द्वारा तैयार किए गए नगा समझौते के मसौदे में असम के दीमा हसाओ इलाके को भी जोड़े जाने का प्रस्ताव है, जिसका विरोध यहां के लोग और संगठन कर रहे हैं। दूसरी ओर 3 अगस्त 2015 को भारत सरकार के गृह मंत्रालय और एनएससीएन(आइएम) के बीच हुए नगा समझौते के बारे में कुछ भी साफ नहीं हो पा रहा है कि उसकी स्थिति क्या है।

दीमा हसाओ की सड़कों पर गणतंत्र दिवस से पहले 21 जनवरी को ही "आरएसएस गो बैक" यानी "आरएसएस वापस जाओ" के नारे लग रहे थे, लेकिन ये तस्वीरें मुख्यधारा के मीडिया से पूरी तरह नदारद रहीं।

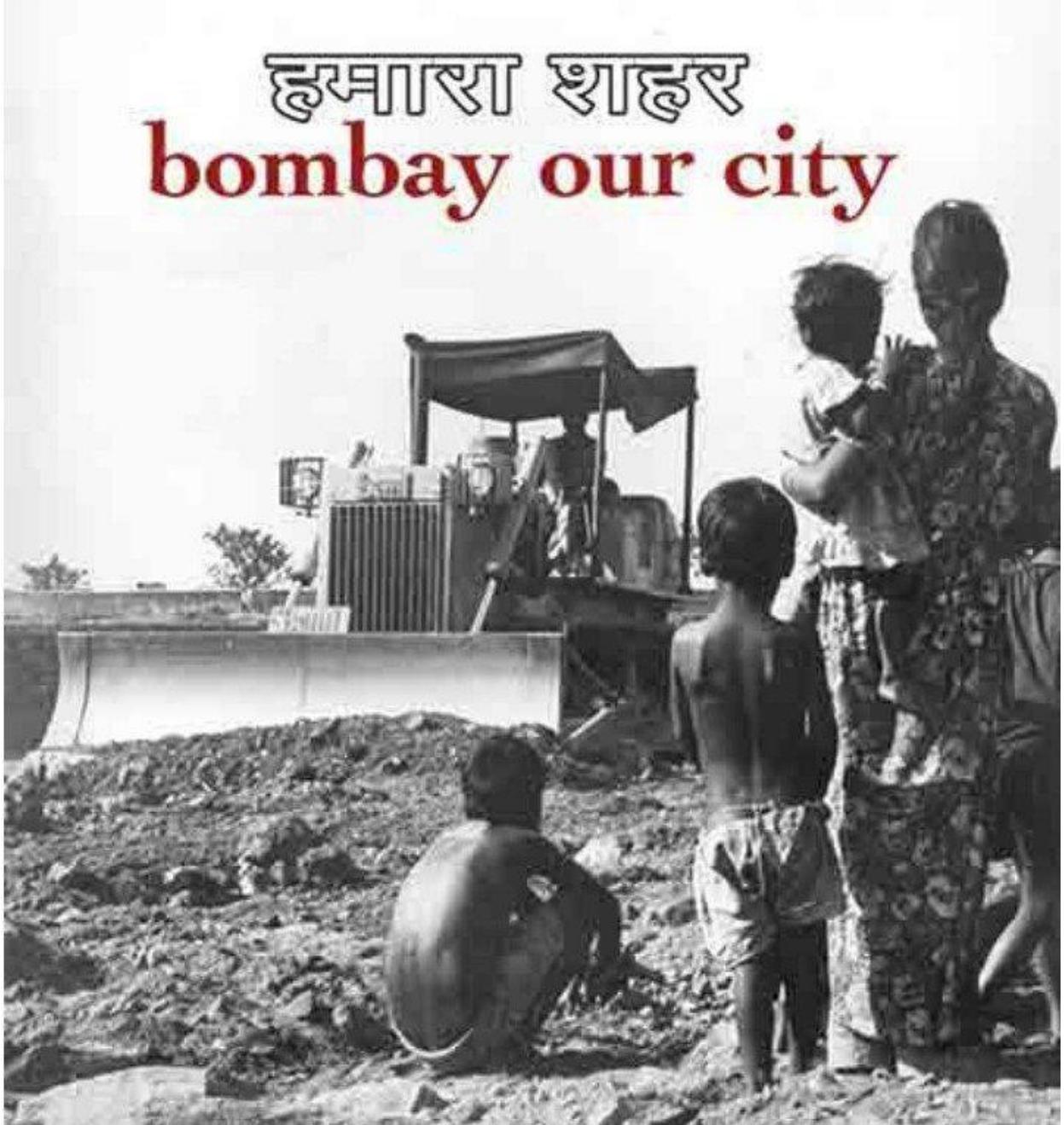
सारे मसले के केंद्र में नगा समझौता है जिसकी घोषणा दो साल पहले प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने दिल्ली में की थी और कहा था कि भारत सरकार ने नगा गुटों के साथ शांति का एक फॉर्मूला निकाल लिया है। वह फॉर्मूला क्या था, इस पर दो साल से अटकलें लग रही हैं लेकिन दीमा हसाओ सड़कों पर उतरे नगाओं की आवाज़ और बैनर-पोस्टर में झलक रहा एक शख्स का नाम यह बताने के लिए काफी है कि नगा समझौते के साथ आरएसएस का रिश्ता क्या है और आखिर इस मामले में भारत सरकार ने कैसे नगाओं के साथ धोखा किया है।

करीब ढाई साल पहले 3 अगस्त 2015 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने ट्विटर पर अचानक एलान किया था कि उसने नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नगालैंड (इसाक-मुइवा) के साथ एक समझौता कर लिया है और यह संधि "न केवल समस्या का अंत होगी बल्कि एक नए भविष्य का आरंभ भी होगी"। इस नगा संधि पर 3 अगस्त 2015 को दिल्ली में भारत सरकार के गृह मंत्रालय और एनएससीएन(आइएम) ने दस्तखत किए थे, लेकिन इसके इर्द-गिर्द जिस किस्म की गोपनीयता बरती गई थी उसे लेकर नगालैंड और उत्तर-पूर्व के कई संगठनों के बीच आशंकाएं व्याप्त थीं कि कहीं केंद्र इन राज्यों की सरहद के साथ छेड़छाड़ कर के एनएससीएन(आइएम) की बहूत पुरानी नगालिम यानी ग्रेटर नगालैंड वाली मांग के आगे घुटने न टेक दे। नगालिम के तहत उन नगा बहूल इलाकों को जोड़ने की मांग की जाती रही है जो असम, अरुणाचल और मणिपुर में आते हैं। वैसे, पहले इन इलाकों में म्यांमा के कुछ इलाकों की भी चर्चा होती रही है। अब चुनाव आयोग ने पिछले दिनों जैसे ही नगालैंड, त्रिपुरा और मेघालय में विधानसभा चुनावों का एलान किया है, वैसे ही इस बात की चर्चा ने जोर पकड़ी कि आखिर उस बहुप्रतीक्षित नगा समझौते का क्या होगा। [कुछ संगठनों ने दिल्ली को लिखकर भेजा](#) कि जब तक समझौता लागू नहीं हो जाता, तब तक चुनाव टालें जाएं और राष्ट्रपति शासन लगा दिया जाए। इस बीच एक चौंकाने वाले घटनाक्रम में आरएसएस की ओर से नगा समझौते का एक मसौदा दस्तावेज़ सामने रखा गया जिसे उत्तर-पूर्व में चार दशक से कथित रूप से सक्रिय संघ के कार्यकर्ता [जगदम्बा मल्ल](#) ने तैयार किया है। असम की सड़कों पर इन्हीं सज्जन के खिलाफ पिछले दो दिनों से नारे लग रहे हैं और "आरएसएस वापस जाओ" की मांग की जा रही है।

जगदम्बा मल्ल पिछले दिनों उत्तर-पूर्व में बीजेपी की चुनावी घुसपैठ में अहम व निर्णायक भूमिका निभाने वाले व्यक्ति हैं। उन्होंने *दि वायर* को बताया है कि नगा संधि का प्रस्तुत मसौदा दस्तावेज़ उनका "निजी प्रयास" है जो "45 साल से ज्यादा समय तक नगा मसले पर उनके अध्ययन" की उपज है। प्रस्तावित मसौदे में केंद्र के साथ वार्ताकारों की सूची में न केवल एनएससीएन(आइएम) बल्कि खपलांग गुट, एनएससीएन(पुनर्गठित) और नगा नेशनल काउंसिल के दो धड़ों समेत 12 अन्य नगा समूहों को भी जोड़ता है। मल्ल के मुताबिक प्रस्तावित मसौदे पर इन सभी के दस्तखत होने हैं। एनएससीएन (आइएम) के अध्यक्ष इसाक चिशी स्वू और खपलांग गुट के मुखिया खपलांग की पिछले दिनों मौत हो चुकी है। मल्ल ने प्रस्ताव दिया है कि नगालैंड के पांच सीमावर्ती जिलों के कुछ क्षेत्रों को मिलाकर एक सीमांत नगालैंड नाम के केंद्र शासित प्रदेश का गठन किया जाए। यह नगालिम की मांग के एकदम खिलाफ है और इसके चलते सीमावर्ती राज्यों को भी दिक्कत होगी, हालांकि मल्ल का कहना है कि उन्होंने ऐसा कर के ग्रेटर नगालैंड यानी नगालिम के पुराने सवाल को ही संबोधित किया है। इसी बात ने मणिपुर के नगालैंड से लगे जिलों सेनापति, तामेंगलांग, उखरुल, चंदेल, नोनी, कामजांग और तेंगनोपाल के लोगों को चिंता में डाल दिया है।

आनंद पटवर्धन की फिल्मों में मजदूर-वर्ग

विद्यार्थी चटर्जी



आनंद पटवर्धन ने 1980 के दशक के बाद मजदूरों के हाशिये पर चले जाने की प्रक्रिया को दर्शाते हुए एक से ज्यादा फिल्में बनाई हैं। इंसानी हालात को संजीदगी और एक अंतर्दृष्टि के साथ समझने की उनकी काबिलियत के चलते ही ऐसा वे कर पाए हैं। वैसे तो उनकी हर फिल्म में इस सूत्र को कहीं न कहीं खोजा जा सकता है, लेकिन खास तौर से दो फिल्में उनकी ऐसी हैं जो मजदूर वर्ग के डगमगाते मुस्तकबिल से वास्ता रखती हैं। जब 1980 के दशक के आरंभ में वे कनाडा में रह कर पढ़ रहे थे, तब

उन्होंने 40 मिनट की एक रंगीन फिल्म बनाई थी ए टाइम टु राइज़ । यह फिल्म ब्रिटिश कोलंबिया में प्रवासी भारतीय और चीनी मजदूरों की बदतर जीवन स्थितियों और कार्य स्थितियों पर केंद्रित थी जिसके चलते वहां कनेडियन फार्म वर्कर्स यूनियन का गठन हो सका था। फिल्म एक यूनियन बनाने की कोशिशों के खिलाफ श्वेत उत्पादकों व भारतीय मूल के ठेकेदारों द्वारा की गई कवायदों को दर्ज करती है। इस फिल्म में एक सिख वृद्धा है। श्वेत मालिकान और हमला करने में प्रशिक्षित उनके खतरनाक कुत्ते भी इसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते हैं। वह बराबर शिद्दत के साथ अपना घर संवारती है, खेतों में काम करती है और साथ ही विरोध प्रदर्शनों का आयोजन भी करती है।

कनाडा की इस फिल्म के पंद्रह साल बाद पटवर्धन ने ऑक्युपेशन: मिल वर्कर (रंगीन, 20 मिनट, वीडियो) का निर्देशन किया जिसके बारे में वे खुद कहते हैं: "कभी कपड़ा मिलें बंबई की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हुआ करती थीं। हजारों की तादाद में इनमें काम करने वाले मजदूर इस शहर के सर्वहारा वर्ग की संस्कृति को गढ़ते थे। आज बढ़ते विदेशी निवेश और रियल एस्टेट की बढ़ती कीमतों के चलते इन मिलों को चलाते रहने से ज्यादा मुनाफा इन्हें बेच देने में है। यह फिल्म हाइ-8 वीडियो में रिकॉर्ड की गई है और प्रबंधन द्वारा दि न्यू ग्रेट ईस्टर्न मिल में तालाबंदी के चार साल बाद मजदूरों के जबरन कब्जे की कहानी को दर्ज करती है।"

कनाडा वाली फिल्म की तरह इसमें भी मजदूरों की प्रवक्ता एक औरत है। वह एक युवा श्रमिक है जो मजदूरों के कब्जे के बाद वहां आई पुलिस से बहुत साहस व साफगोई के साथ बात करती है। मिल के दोबारा खुलने पर जश्न का दृश्य उस अतीत का आवाहन करता प्रतीत होता है जब साचा (यानी करघा) उस प्रमुख आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ताने-बाने का प्रतीक हुआ करता था जिसने भारत के इस अहम औद्योगिक शहर के निर्माण की नींव रखी थी। उस वक्त तक बंबई का मजदूर समूचे भारतीय राष्ट्र के गौरव और रश्क का बायस होता था, जब तक कि ठाकरे और उनके शिव सैनिक इस परिदृश्य में एक नापाक परिघटना की तरह उभरकर सामने नहीं आ गए और उन्होंने समाज को बांटने वाली राजनीति नहीं शुरू कर दी। बंबई का मजदूर न केवल मिलों में बल्कि रेलवे, पोर्ट, बंदर और तमाम उन जगहों पर मौजूद होता जहां सम्मानजनक काम उपलब्ध था, भले ही उसमें मेहनताना वाजिब न मिलता हो और कार्यस्थल पर काम करने की स्थितियां दुष्कर रही हों।

हर सच्चा कलाकार एक अंतरराष्ट्रीयतावादी होता है। वह चाहे कितना ही अपनी जड़ों से जुड़ा हो, लेकिन उसकी कला का मूल्य सार्वभौमिक होता है। पटवर्धन अपनी फिल्मों में अपने पात्रों के समक्ष मौजूद गंभीर मुद्दों को ऐसी समझदारी से बरतते हैं कि एक परिपक्व दर्शक के लिए उनकी फिल्म भारतीय अनुभवों का बड़ी आसानी से अतिक्रमण कर जाती है। मुट्ठी भर लोगों द्वारा इकट्ठा अकूत दौलत के बीच अधिसंख्य जनता की अविश्वसनीय गरीबी, अज्ञानताजन्य पूर्वाग्रह, पूर्वाग्रहजन्य क्रूरता, जो अकसर धार्मिक ही होती है; प्रवासी मजदूरों और सामंतवाद के हमले से विस्थापित हुए अन्य समूहों की नियमित समस्याएं; या फिर असंतुलित समाजार्थिक विकास को पैदा करने वाले अथवा उसके परिणामस्वरूप पैदा हुए अंतर्विरोध- वे ऐसे मुद्दों को बड़ी सहजता के साथ दिखा देते हैं।

इस संबंध में उन दो प्रतिष्ठित फिल्मकारों के शब्द याद आते हैं जिन्हें वैसे तो उनकी फिक्शन के लिए जाना जाता है पर जिनके काम में वृत्तचित्र का प्रचुर पुट भी समाहित है। हम्बर्तो सोलास और अकी

कुरिस्माकी के काम में आप वही सरोकार और सबसे निचले पायदान के लोगों के प्रति वही संजीदगी देख पाते हैं जहां से पटवर्धन का समूचा काम निकला है। उनका कहा एक ऐसी दुनिया का आवाहन करता है जो दुर्भाग्य से अब हमारी चेतना से ही विदा हो रही है, जहां मजदूर वर्ग के आदमी और औरत प्रतिष्ठा व इज्जत के साथ जिया करते थे।

एक जिम्मेदार कलाकार के बतौर क्यूबा के मरहूम 'ऐतिहासिक मेलोड्रामाटिस्ट' सोलास का समूचा करियर 1958 के उस इंकलाब से उपजी आकांक्षाओं से चालित है, जिसे आज की तारख में अमेरिका, वेटिकन और क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर मौजूद ताकतवर गिरोह मिलकर पलटने की कोशिश में लगे हुए हैं। उन्होंने केरल अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव 2004 में जूरी के अध्यक्ष की हैसियत से कहा था, "संस्कृति में उत्तर-आधुनिकता का नया विचार बहुत खतरनाक है। वह कहता है कि आपको किसी राजनीतिक या दार्शनिक विचार से जुड़ा नहीं होना चाहिए, कि आपको वास्तविकता के राजनीतिक और दार्शनिक आयाम के पार होना चाहिए। लातिन अमेरिका के कई फिल्म निर्देशकों ने यह राह चुनी, लेकिन मुझे लगता है कि यह स्वाभाविक ही था। समाजवादी योरप के विखंडन ने हताशा के बोध को जन्म दिया। अब हम उससे उबर रहे हैं। मुझे लगता है कि इतिहास में यह काफी बेहतरीन पल है क्योंकि आखिरकार हमें राजनेताओं जितना ही रचनात्मक होना पड़ रहा है।"

सोलास जिस वक्त ये भविष्यदर्शी बातें कह रहे थे- भविष्यदर्शी इस अर्थ में कि इसके कोई पंद्रह साल बाद लातिन अमेरिकी देशों ने एक के बाद एक अपने यहां वाम रुझान वाली उन ताकतों को सत्ता में चुनकर भेजा जो अतीत के गरीब-विरोधी ढांचों को उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध थीं- उसी दौर में फिनलैंड के सर्वहारा वर्ग से आने वाले फिल्म निर्देशक अकी कुरिस्माकी ने कहा था, "न केवल फिनलैंड में बल्कि पूरी दुनिया में बेरोजगारी की हालत इतनी बदहाल है कि मैं मानता हूं इस क्षण पर बनी कोई भी फिल्म का उद्देश्य इसके सिवा कुछ और नहीं हो सकता कि एक ओर वह लोगों को उम्मीद बंधाए और दूसरी ओर इन स्थितियों को दर्ज करे।" कुरिस्माकी आगे किसी मजदूर की मनःस्थिति पर बेरोजगारी के विनाशक प्रभावों का जिक्र करते हैं जिसे मंदी के बाज़ार में सेवा से च्युत कर दिया गया हो और अगली नौकरी तलाश पाना जिसके लिए मुश्किल हो चला हो।

अपने-अपने विशिष्ट तरीकों से पटवर्धन, सोलास और कुरिस्माकी ने कला और संस्कृति के क्षेत्र विचारों और छवियों का एक प्रभावी राजनेता होने की कोशिश की और कर रहे हैं- ऐसा राजनेता जो व्यक्तियों और संकटग्रस्त पुरुषों व स्त्रियों की सामूहिक कहानियों को संकुचित हो चुकी दुनिया तक पहुंचाना चाहता है। एक ऐसा राजनेता जो राजनीति से संलग्न तो है लेकिन राजनीति नहीं करता। इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है कि ऐसे स्त्री व पुरुषों में से ऐसा कोई भी नहीं है जो अपने काम में समय के साथ महारत हासिल करने के आधार पर भी दो जून की रोटी कमा पाने में सक्षम हो।

आनंद पटवर्धन के बारे में यह कहा जा चुका है कि "लगातार सरकारी उपेक्षा, अस्वीकार्यता, बंदिशों और खुले तौर पर भेदभाव को झेलते हुए वे अपने आप में एक परिघटना बन चुके हैं।" शायद किसी भी सृजनात्मक कलाकार का रास्ता भी यही होना चाहिए, जो राजनीतिक उत्पीड़न, सामाजिक अन्यायों और आर्थिक असमानताओं से जूझने का मन रखता हो और जिसका सतत उद्देश्य "अज्ञानता से भरी हुई

यथास्थितिवादी दुनिया में लोगों को शिक्षित करना, उजागर करना, सूचित करना, सुधार करना और बदलाव लाना" हो।

पटवर्द्धन (1950 में जन्म) भारत के सबसे मशहूर ओर प्रतिष्ठित डॉक्युमेंट्री फिल्मकार हैं। वे एक ऐसे मोड़ पर पहुंच गए हैं जहां उनके आलोचक भी चुप मार कर उनकी फिल्में देखते हैं और उनके साथ सम्मानजनक तरीके से बहस करते हैं। इस मंजिल तक पहुंचने में उन्होंने अपनी तीव्र मेधा व विशिष्ट सामाजिक चेतना के इस्तेमाल तमाम मोर्चों पर चार दशक से ठोस कड़ी मेहनत की है। पटवर्द्धन को हालांकि समूचे उपमहाद्वीप में और उसके पार भी एक निर्भीक और अथक एक्टिविस्ट के तौर पर देखा जाता है- एक ऐसे सचेतक के तौर पर जो अपनी जिंदगी का अधिकतर समय भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लिखने, बोलने और विरोध प्रदर्शन करने में लगाता है। सांप्रदायिकता, वर्गीय असमानताओं और राजनीतिक बुराइयों से लेकर मजदूर वर्ग की बदहाली और लिंग/जाति आधारित भेदभाव तक पटवर्द्धन ने एक साथ तमाम बीमारियों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है और इसमें अपनी अथक ऊर्जा, अंतर्दृष्टि व साहस का निवेश किया है।

सामाजिक रूप से सचेत दर्शकों की निगाह में पटवर्द्धन पहली बार अपनी शुरुआती श्वेत-श्याम राजनीतिक फिल्मों वेक्स ऑफ रिवाल्यूशन (इंदिरा गांधी के निरंकुश राज के खिलाफ बिहार में जयप्रकाश नारायण के आंदोलन पर आधारित) और प्रिज़नर्स ऑफ कॉन्शिअंस (भारत की भीड़ भरी बर्बर जेलों में बिना सुनवाई के बंद राजनीतिक कैदियों पर आधारित) के माध्यम से आए। सत्तर के दशक की इन दो फिल्मों में उनकी जो अनुभूति और समझ दिखी, उसने बड़े कैनवास पर 1985 में हमारा शहर (बॉम्बे-आवर सिटी, रंगीन, 35 एमएम, 82 मिनट) के रूप में परिपक्वता हासिल की। शहरी संपन्नता और उदासीनता के साथ गरीबों, बेरोजगारों और बेघरों के आक्रोश व आंसुओं के इस द्वंद्व के दस्तावेजीकरण के चलते पटवर्द्धन माना जा सकता है कि कायदे से बड़े पैमाने पर दर्शकों की नज़र में अब तक आ चुके थे।

सेलुलॉयड के किसी शल्यचिकित्सक की कुशलता के साथ इस फिल्मकार ने जनता की निगाह से अब तक छुपे भारत की कॉरपोरेट व वाणिज्यिक राजधानी के सौंदर्य से जुड़े सावधानीपूर्वक रोपे गए मिथकों को परत दर परत उघाड़ कर रख दिया। पुलिसकर्मी रिबेरो से लेकर कारोबारी गोदरेज और नागरिक सुखतांकर तक तमाम प्रतिष्ठित किरदारों की करीब से पड़ताल की गई और उनकी कमजोरियों को उजागर किया गया। कह सकते हैं कि अब तक किसी भी फिक्शन या डॉक्यु फिल्म ने इतने सशक्त तरीके से नागरिक प्रतिनिधियों, पुलिसवालों, नेताओं, कारोबारियों और विज्ञापन जगत के लोगों के बीच के गठजोड़ को उजागर किया होगा, जो बंबई की धड़कन है।

हमारा शहर के बारे में पटवर्द्धन कहते हैं, "यह फिल्म स्पेस और संरचना की उस राजनीति पर एक निबंध के जैसी है जो अब तक इस देश के अतार्किक विकास के खाके को तय करते आई है। यह फिल्म राजनीतिक डॉक्युमेंट्री की परिभाषा की ओर एक विशिष्ट प्रस्थान है जो साथ ही एक समाजशास्त्रीय टिप्पणी भी है। इस फिल्म ने सचेत तौर पर काउंटर-सिनेमा के निर्माण के विकास क्रम का आगाज़ किया है।"

हमारा शहर को बनाने में पटवर्द्धन ने अलग-अलग तत्वों का परस्पर संलग्नता के साथ इसतेमाल किया है। इनमें व्यापक लाइव फुटेज, कभी-कभार होने वाले नाटकीय प्रहसन, तस्वीरें और खुले में सामूहिक गान आदि शामिल हैं। प्रत्येक तत्व राज्य और वर्गीय क्रूरताओं के खिलाफ सर्वहारा वर्ग के प्रतिरोध को और धारदार तरीके से सामने लाता है- वे क्रूरताएं जो लोकतंत्र, कानूनी नियम और बंबई को साफ व सुंदर बनाने के नाम पर लगातार जारी हैं। हमारा शहर के साथ पटवर्द्धन ने एक बेहद सहज शैली विकसित की जिसने डॉक्युमेंट्री की संस्कृति और चलन को वहां से कई कदम आगे ले जाकर खड़ा कर दिया जहां एस. सुखदेव और लोकसेन लालवानी जैसे शुरुआती वृत्तचित्र निर्माता उसे आधिकारिक या अन्यथा दबावों व समझौतों के तले छोड़ गए थे।

एक उदासीन नगर निगम द्वारा विभिन्न एलीट समूहों की शह पर झुग्गियों के उजाड़े जाने और पटरियों को तोड़े जाने की व्यापक कवरेज हमारे सामने असंख्या विस्थापित परिवारों के इतिहासों को सामने रख देती है जो एक नहीं कई बार बेघरबार हो चुके हैं। इनमें से तमाम परिवार ऐसे हैं जो पहले अपने गांव से विस्थापित हुए और भोजन व आश्रय की तलाश में बंबई आए। अगर इस शहर के किसी कोने में उन्हें थोड़ी जगह पैर रखने को मिली भी, वह भी आम तौर से निर्माण मजदूर के रूप में जिसकी सुरक्षा के लिए यूनियन नहीं होती है, तो उन्हें वहां से भी सरकारी आदेश पर उजाड़ दिया गया। एक से दूसरी जगह दर-दर भटकने वाले ऐसे लोगों के बारे में कुछ जानकार जन प्रतिनिधि अमान और उत्पीड़न की ऐसी भयावह कहानियां सुनाते हैं जैसा कि किसी भी सभ्य समाज में नहीं घटना चाहिए।

मसलन, अपनी गोद में अपने बच्चे को चिपटाए एक कृशकाय मां तमिल में बताती है कि कैसे उसके परिवार और तमाम अन्य लोगों को वे लोग जानवरों की तरह बरतते हैं जब उनके घर ढहाने और उन्हें उनकी रिहाइशों से खदेड़ने के लिए वहां आते हैं। एक युवा महिला उन पत्रकारों और छायाकारों पर नाराज़ होती है जो वैसे तो झुग्गियां तोड़े जाने के वक्त उनके यहां आते हैं लेकिन बाद में पता नहीं करते कि उनके साथ क्या हुआ। एक शांत और आक्रोशित व्यक्ति अपनी एक टांग पर उछलते हुए यह दलील देता है कि आखिर सरकार और अदालतें इस मामले में और ज्यादा न्यायपूर्ण व सहिष्णु दृष्टि क्यों नहीं अपनाती हैं। प्रत्येक की गवाही पहले वाले के मुकाबले ज्यादा भेदक होती है। पीड़ितों को ऐसा लगता है और शायद ठीक ही लगता है कि पत्थरदिल लोगों को बदल पाने का कोई रास्ता नहीं है।

इंसानी स्वभाव से उलट हम देखते हैं कि विस्थापन और विध्वंस के शिकार लोग इतनी जल्दी हार नहीं मानते। अगर उन्हें बिखरने से रोकने वाली कोई एक चीज़ है, तो वो है विस्थापितों के बीच की एकजुटता। जब बंबई की खुराफाती बारिश आसमान से गिरती है, तो वह हिंदू, मुसलमान और दलितों को अपने आप एक कर देती है। लोग एक-दूसरे का खाना साझा करते हैं और एक-दूसरे की बदकिस्मती के भी साझीदार बन जाते हैं। आपदा चाहे इंसान की बनाई हो या कुदरती, उजाड़े हुए परिवारों की तस्वीरें हर बार ही सबको संवैधानिक व कानूनी गारंटी के समूचे मुहावरे पर एक टिप्पणी जैसा मार करती है। ये तस्वीरें एक भव्य विडंबना को भी दर्शाती हैं कि जिन लोगों ने विशाल होटल और आवासीय परिसर बनाए और पैसेवालों की जिंदगी को आसान बनाया, वे खुद बेघरबार और भूखे हैं। इसके उलट आप अगर विध्वंस और उजाड़ के पक्ष में दलील देने वाले शोषकों की बातें सुनेंगे, तो पाएंगे कि दुनिया के किसी भी विश्वविद्यालय में इस किस्म की शिक्षा आपको नहीं मिल सकती।

रोजमर्रा के संघर्ष की भट्ठी में तपी हुई स्पेसहीन और संरचनाविहीन लोगों की एकजुटता फिल्म के तमाम गहरे दृश्यों में दिखती है। खासकर एक दृश्य जो दर्शक को सबसे ज्यादा झकझोरता है, वह एक मुसलमान परिवार में नवजात की मौत का है। उसकी मां को मनाना मुश्किल है। उसका हाहाकारी शोक और मरे हुए बच्चे को अपनी गोद में लेकर चुपचाप टहल रहे बाप का मौन मिलकर संवेदना का ऐसा गहरा दृश्य रचता है जिसे किसी भी भाषा में अभिव्यक्त करना असंभव है। मां की गोद से बच्चे को जब छीना जाता है, उस वक्त मां की चीत्कार और बंबई के बेपरवाह ट्रैफिक के बीच से चुपचाप गुजरती अंतिम यात्रा का सन्नाटा आपस में मिलकर एक विपर्यय रचता है, जहां किसी को किसी भी गरीब के साथ हुए हादसे से कोई सरोकार नहीं है। इससे त्रासदी की जो बेहद निजी प्रकृति उभरती है, वह महानगर की खोखली हृदयता और इसमें होने की निरर्थकता के साथ एक तीव्र विपर्यय रचती है।

पटवर्द्धन की फिल्मकारी में छोटे तबके के परिवारों की कहानी बार-बार लगातार आती है। राज्यसत्ता के विभिन्न उपकरणों द्वारा तलछट के वासियों पर किए जा रहे तमाम जुल्म को दिखाने के क्रम में पटवर्द्धन ने अकसर प्रतिबंधों को न्योता देने का काम किया है। उनकी कोई भी फिल्म इतनी आसानी से संपादन की मेज़ से सभागार तक नहीं पहुंच पाती। यह बात अपने आप इस निर्देशक की पक्षधरता की गवाही देती है। यह सौभाग्य की बात है कि हर बार सेंसर की सूत्र में इस देश की अदालतों ने उनके समर्थन में फैसले दिए हैं और अपना काम जारी रखने की उन्हें सहूलियत भी दी है।

एक के बाद एक अपनी फिल्मों में पटवर्द्धन जिन वंचित लोगों के बारे में लगातार बात करते जाते हैं, उनकी जिंदगी और चेतना में क्या उन्होंने एक चिंगारी भी जलाने का काम किया है या नहीं, यह जानने के लिए आपको उन सार्वजनिक स्थलों पर जाना पड़ेगा जहां इनकी फिल्मों का प्रदर्शन होता है। आप पाएंगे कि फिल्म के किरदार भी वहीं उपस्थित होते हैं। ये फिल्में रोजाना के संघर्ष से उपजे उनके आक्रोश और हताशा के बरक्स प्रतिष्ठा और इंसान की उनकी तलाश को जीवित रखने का काम करती हैं। अगर बीते चालीस साल में देश के तमाम हिस्सों में सैकड़ों दर्शकों ने हमारा शहर देखी है, तो आज भी बंबई व आसपास के नगरों में हजारों की संख्या में लोग घंटों उनकी ताज़ा फिल्म के प्रदर्शन के लिए एक पैर पर खड़े रहे हैं जिसका नाम है जय भीम काम्रेड। यह फिल्म दलित आंदोलन के विभिन्न आयामों और इतिहास से ताल्लुक रखती है। असंख्य दलित परिवार जिस गंदगी और गंद में जीने को मजबूर हैं, पटवर्द्धन उसके बीच से आंबेडकर की सच्ची संतानों को खोज निकालते हैं। यह फिल्म जितना समकालीन दलितों के निजी और सामूहिक पहचान से वास्ता रखती है और उन महान नायकों से जिन्होंने दलितों को पहली बार एक सशक्त स्वर दिया, उतना ही इसका लेना-देना भारतीय राश्ट्र और समाज के साथ है जो दिवालिया होने के कगार पर खड़ा है। एक अर्थ में देखें तो इस फिल्म के बीच हमें हमारा शहर में ही मिलते हैं जिसमें प्रवासी परिवारों के वे किरदार मौजूद हैं जिनका मध्यवर्गीय व अभिजात्य समाज व्यवस्थित रूप से दोहन करता है और इनकी उपयोगिता खत्म हो जाने पर चाय में से मक्खी की तरह निकाल कर बाहर फेंक देता है।

प्रवासी श्रमिकों और महानगर में उनकी रिहाइशों के विध्वंस के विषय पर सशक्त विमर्श खड़ा करने के चलते देश भर में मिले अपने समर्थकों के अलावा हमारा शहर को सर्वश्रेष्ठ नॉन-फिक्शन फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला और पेरिस में सिनेमा डी रील में स्पेशल जूरी पुरस्कार से नवाजा गया, जो कि दुनिया में नृशास्त्रीय और जातीय विषयक फिल्मों का सबसे बड़ा मेला होता है। इस फिल्म को मिले

सम्मानों की परिणति फिल्फेयर के रूप में हुई जब इसे 1986 में सर्वश्रेष्ठ नॉन फिक्शन के पुरस्कार से नवाज़ा गया। यह पुरस्कार फिल्म की व्यापक स्वीकार्यता का संकेत था।

हमारा शहर की सबसे बड़ी उपलब्धि हालांकि इस बात में दिखती है कि इसने उस वक्त तक मोटे तौर पर सरकारी प्रचार का वाहन रहे वृत्तचित्रों की परंपरा को इसने तोड़ा और साहसिक वृत्तचित्रों के समूचे घराने का यह प्रस्थान बिंदु बनी। इस किस्म की फिल्मों में हम रंजन पलित और वसुधा जोशी की वॉयसेज़ फ्राम बलियापाल को गिन सकते हैं ग्रामीण ओडिशा में लोकप्रिय विरोध के बीच एक सरकारी रॉकेट प्रक्षेपण केंद्र बनाने की योजना पर केंद्रित है। ऐसी ही फिल्म चलम बेन्नूरकर की चिल्ड्रेन ऑफ कुट्टी जापान थी जिसमें तमिलनाडु के शिवकाशी में पटाखा कारोगार में काम करने वाले मासूम बच्चों की कहानी दिखायी गई थी।

जिसे हम 'न्यू इंडियन डॉक्युमेंट्री' कहते हैं, उसका अगर वास्तव में किसी को प्रणेता कहा जा सकता है तो वे पटवर्द्धन ही हैं, जिन्होंने न केवल अपने साथ काम कर रहे लोगों को प्रेरित किया बल्कि उन्हें भी जो उनके मानने और चाहने वाले हैं।

एक ऐसी नई व्यवस्था की तलाश में जहां मज़हबी और सियासी असहिष्णुता कुछ कम मात्रा में हो और जहां वर्गों, लिंगों, आस्थाओं और विचारों के बीच का घर्षण उम्मीद, आशा व दयालुता की एकजुटता के खिलाफ खड़ा हो सके, आनंद पटवर्द्धन अनादर्श कैमरे को सचेत रूप से अपना औज़ार बना देते हैं और उनके साथ उनकी अंतरात्मा लगातार एक सच्चे साथी की तरह कायम रहती है। वैज्ञानिक प्रगति, देशभक्ति, राष्ट्रीय गौरव या फिर लोगों के सहज उपभोग के लिए सत्ता द्वारा बेचे जाने वाले किसी भी विचार के नाम पर इस उपमहाद्वीप को विनाश के कगार पर खड़ा किए जाने की कवायदों के आलोक में पटवर्द्धन चीजों को उनकी सतही पहचान के रूप में लेने को तैयार नहीं होते, और यह हमारा शहर व बाद की फिल्मों में साफ़ दिखता है। राजनीतिक सत्ता प्रतिष्ठान और अभिजातों द्वारा लगातार फैलाए जा रहे झूठ से इतर पटवर्द्धन की फिल्मों में सामने आने वाले शोषित और संकटग्रस्त परिवार घुटने टेकने को तैयार नहीं दिखते।

कई मायनों में देखें तो विध्वंस, विस्थापन और गरीबों के इससे पैदाहोने वाले दर्द के बीच एक बागी मजदूर परिवार की कहानी को उकेरने वाले वृत्तचित्र क्वार्टर नंबर 4/11 को करीब 25 साल पहले बनी पटवर्द्धन की हमारा शहर का विस्तार माना जा सकता है। पटवर्द्धन के कई आलोचक उनके काम के महत्व की उपेक्षा करने में लगातार जुटे रहते हैं, लेकिन विडंबना यह है कि उनके आलोचकों की बनाई तमाम फिल्में खुद पटवर्द्धन की फिल्म से ही प्रेरित दिखती हैं।

"क्वार्टर नंबर 4/11 शहरी रियल एस्टेट विकास का एक जमीनी आख्यान है जिसे कारखाने के एक पूर्व मजदूर शम्भु प्रसाद सिंह की नियति के माध्यम से दिखाया गया है, जो दक्षिणी कलकत्ता में हुए विकास का शिकार किरदार है। दस साल तक शूट की गई यह फिल्म एक शख्स की उस जंग में हार पर केंद्रित है जहां वह अपनी पैदाइश और आजीविका की ज़मीन को कस के पकड़े रहना चाहता है। यह उस व्यक्ति का आख्यान है जिसे उसकी ज़मीन से ही वंचित किया जा रहा है ताकि विकास के लिए 'जगह' बन सके।"

ये शब्द कलकत्ता की फिल्मकार रानू घोष के हैं जो विकास के नाम पर हो रहे लूटपाट के समकालीन कैंसर की आलोचना इस फिल्म में करती हैं, जिसका माध्यम फिल्म में एक बिहारी मजदूर को बनाया गया है जिसने अपने परिवार को हुई तमाम असुविधाओं और धमकियों के बावजूद अपना कंपनी क्वार्टर खाली करने से इनकार कर दिया है। शम्भु के पिता और दादा शहर के जाधवपुर स्थित उसी विशाल उषा कारखाने में काम कर चुके हैं। पीछे उनके पास कुछ खेती की ज़मीन भले थी, लेकिन अनिवार्यतः यह परिवार मजदूर तबके से आता है जो शहरी स्पेस में अपने अच्छे दिन देख चुका है।

अस्सी के दशक में वाम मोर्चे की सरकार के दौरान अपनी बंदी से पहले दशकों तक उषा कंपनी सीलिंग पंखे ओर सिलई मशीन बनाती रही जिनकी लोकप्रियता देश-विदेश हर जगह हुआ करती थी। उषा एक ऐसा ब्रांड था जिसे लोग तुरंत पहचान जाते थे और उस पर भरोसा करते थे। मजदूर यूनियनों के आंदोलन को अपनी उत्पादकता और उत्पादन के लिए प्रतिकूल मानते हुए कंपनी के दिल्ली स्थित मालिकों ने कारखाने में तालाबंदी कर दी जिससे शम्भु जैसे सैकड़ों मजदूर सड़क पर आ गए। बंदी के बाद मालिकों और सात ताकतवर रियल एस्टेट डेवलपर कंपनियों के बीच कारखाने की जमीन की बिक्री की सौदेबाज़ी शुरू हो गई। प्रिंस अनवर शाह रोड पर स्थित कारखाने के भीतर मजदूरों के क्वार्टर हुआ करते थे। जब डेवलपर यहां आए, तो शम्भु को छोड़कर सभी मजदूरों ने अपना मकान खाली कर दिया जबकि उनमें से अधिकतर यहीं पैदा हुए थे। ये लोग नए मालिकों की धमकियों का सामना नहीं कर पाए।

यह फिल्म विशालकाय क्रेनों, बुलडोज़रों, हथौड़ों और वर्दीधारी सुरक्षाकर्मियों की लंबी-चौड़ी फौज के आगे शम्भु और उनके परिवार के प्रतिरोध का एक आख्यान है। रानू घोष पूरी कामरेडाना सहानुभूति के साथ इस समूची कहानी को नवयथार्थवादी शैली में दर्ज करती हैं।

क्वार्टर नंबर 4/11 (2011, डिजिटल, 70 मिनट, अंग्रेज़ी सबटाइटिलों के साथ हिंदी व बांग्ला में) एक अकेले पड़ चुके परिवार की नियमित और उदासीन दिनचर्या को दर्शाती है। यह परिवार अपने शोषकों को जीत का अहसास किसी कीमत पर नहीं देने को तैयार था। इस तरह दर्शक खुद ही कल्पना करने के लिए छोड़ दिया जाता है कि आखिर इस परिवार को रोज़ाना किन बर्बरताओं का शिकार होना होता होगा, खासकर सूरज डूबने के बाद इसके ऊपर कितना मानसिक दबाव रहता होगा। घर का चूल्हा कायम रखने के लिए शम्भु ने जहां ए मिनिबस कंडक्टर की नौकरी पकड़ ली, वहीं उसकी पत्नी पूजा ने रसोइ, सिलाई और सफाई का काम शुरू कर दिया और बच्चे की देखभाल करने लगी। उनका बच्चा टीवी देखता है, रात में होमवर्क करता है और सुबह स्कूल जाने की तैयारी करता है। रानू घोष परिवार के भीतर मौजूद खाली जगहों में प्रवेश करती हैं और इन तीन वंचित लेकिन संकल्पपरत व्यक्तियों की जिंदगी के विवरणों को पूरे दिलो दिमाग के साथ दर्ज करती हैं।

इंसानी स्वभाव ही ऐसा होता है कि असीम दुख के बीच भी वह मनोरंजन की खुराक के बगैर नहीं जी सकता। शम्भु प्रसाद जैसा वंचित परिवार भी बिना लड़े घुटने नहं टेकना चाहता क्योंकि उसे भरोसा है कि दुश्मन गलत है और वह सही है। जब पूरा शहर दुर्गा पूजा या छठ मना रहा होता है, तो क्या यह मुमकिन है कि शम्भु का बेटा, उसकी पत्नी और वह खुद इन उत्सवों से कट कर रह पाते। वे इसमें शामिल होते हैं, भले ही उनके पास संसाधन कम हों लेकिन उनका दिल बड़ा है। क्वार्टर संख्या 4/11 के

ईर्द-गिर्द दिन-रात चलने वाली कारीगरी और भय का तमाम कारोबार भी सिंह परिवार की जिजीविषा को छीन पाने में अक्षम है।

घोष काफी निर्लिप्तता के साथ क्वार्टर के भीतर ओर बाहर के घटनाक्रम को दर्ज करती हैं जबकि देखने वाले को लगातार लग रहा है कि अब तो इस मकान के दिन लदने वाले हैं। फिल्मकार खुद परिवार की नियमित के साथ नत्थी है, लेकिन ऐसा किसी प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखता। फिल्म का नाटकीय ढांचा आगे चलकर एक विश्वसनीय थ्रिलर की शकल ले लेता है तो सिर्फ इसलिए कि घोष ने बहुत सचेत रूप से खुद और बाकी किरदारों के बीच की दूरी को कायम रखा है।

शूटिंग शुरू होने के कुछ समय बाद फिल्मकार को कारखाने की उस साइट से दूर रहने की हिदायत दी गई थी जहां एक विशाल शॉपिंग मॉल और बहुमंजिला इमारतों का निर्माण चालू हो चुका था। घोष इससे नहीं डिगीं। उन्होंने शम्भु को सिखाया कि कैमरा कैसे चलाया जाता है और उसे एक डिजिटल कैमरा थमा दिया। उसके बाद से शम्भु ने अपनी जिंदगी के उन कोनों की शूटिंग की जहां अन्यथा घोष की पहुंच हो पाना संभव नहीं थी। उषा पंखा कारखाना के पेंटिंग विभाग में मजदूर से शम्भु का कार्यांतरण एक सिनेमटोग्राफर में हो गया। यह उसका अपना रुझान नहीं था, बल्कि गरीब-मजदूरों के एक कलाकार की मजबूरी थी कि कैसे एक उत्पीड़ित भारतीय परिवार के लम्हों को कैद किया जाए। रानू घोष को इस बात का श्रेय जाता है कि फिल्म के क्रेडिट रोल में उन्होंने कैमरे का श्रेय शम्भु को भी दिया है और खास बात ये कि अपने नाम से पहले शम्भु का नाम लिखा है।

फिल्म के एक और हिला देने वाला दृश्य वह है जो दर्शक को घोष और सिंह परिवार के साथ उनके पुश्तैनी गांव-खेत तक ले जाता है। शम्भु के बूढ़े पिता और मां उसके ऊपर अतिशय स्नेह बरसाते हैं। वे इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं दिखते कि उनके बेटे के साथ कोई बदकिस्मती हुई है। अदालत में मुकदमा लड़ने के शम्भु के फैसले को वे अपना समर्थन देते हैं। दोनों ही शम्भु पर खूब लाड बरसाते हैं, लेकिन शम्भु शायद अपनी मां के ज्यादा करीब है जिसे वह कैमरे के सामने पूरी अंकवारी में भर लेता है। वह उसे महानगर की शैतानी ताकतों के खिलाफ आगाह करती है लेकिन अपनी इज्जत और अधिकारों के लिए उसकी लड़ाई के लिए प्रोत्साहित भी करती है। कैमरे में पारिवारिक संवाद, घर के भीतर और बाहर का माहौल ओर खेत आदि खूब अच्छे से कैद हुए हैं। थोड़ी देर के लिए ही सही, एक ग्रामीण परिवार के अपनापे को रेखांकित करने में कैमरा कामयाब है। यह मंत्रमुग्ध कर देने वाला दृश्य अचानक टूटता है जब परिवार लौट कर कलकत्ता वापस आ जाता है, जो शहर कभी मजदूर वर्ग के संघर्ष और एकजुटता का गढ़ हुआ करता था लेकिन आज काल और परिस्थितियों की छाया में खुद अपना ही एक धुंधला प्रतिबिंब बनकर रह गया है।

यही बदलाव शम्भु जैसे मजदूर को भीतर तक आहत करता है, जिसके एक दृश्य में काफी करीबी से रेखांकित किया गया है जहां वह अपने कुछ पुराने साथियों संग शराब पी रहा है जो उसके उलट खुद को दिलासा दे चुके हैं और आसपास डूबती हुई दुनिया के साथ राबिता बैठा चुके हैं। शम्भु के पास जो डिजिटल कैमरा है, उससे वह उन मयनोशी के पलों को रिकॉर्ड कर लेता है। अब तक उसने खुद को ऐसा ज़ाहिर नहीं किया था जैसा उस वक्त करता है। अपने दोस्तों और यूनियन वालों द्वारा अकेला छोड़ दिए

जाने का उसका दर्द इसी पल में मुखर होता है। बहस होती है, पारा गरमाता है और इनके रिश्तों के बीच जो दूरी पनप चुकी है, वह खुलकर सामने आ जाती है।

यह दृश्य संयोजन यथासंभव रोमांचक है। छवियों और ध्वनियों की खुदरदरी गुणवत्ता घोष जैसे प्रशिक्षित और कुशल फिल्मकार की सुघड़ता के साथ एक विपर्यय रचती है। शम्भु की सिनेमटोग्राफी में जो जमीनी सौंदर्य है, वह फिल्म में आहत हो चुके किरदारों के भय और कुंठाओं के साथ सामान्य से अधिक न्याय करता है हालांकि उनकी टूटन सिंह परिवार से ज्यादा नहीं है। वास्तव में शम्भु का कैमरे पर कच्चा काम रानू घोष की कैमरे को लेकर परिपक्व समझदारी को एक रचनात्मक श्रवांजलि है।

शम्भु जब सोने की तैयार कर रहा होता है, उस वक्त का सीक्वेंस न केवल उसके निजी संघर्ष को बयां करता है बल्कि उसके वर्ग की अस्थिर और अनिश्चित स्थिति का चित्रण है- एक ऐसा लकड़हारा जिसके पास काटने को लकड़ी नहीं है या फिर एक ऐसा भिंशी जिसके पास काटने को पानी नहीं है। बेरोजगार कामगार की ऐसी विडंबना की कल्पना कर पाना कठिन है। शम्भु जो काम कर रहा है, वह किसी चाहत के चलते नहीं बल्कि इसलिए कि उससे बेहतर पगार देने वाला और कम तनाव देने वाला काम उसके पास है ही नहीं।

हमें बाद में इस बात का अहसास होता है कि इस दृश्य-श्रृंखला में दरअसल इस साहसिक शख्स की नियति का पूर्वाभास छुपा हुआ था। संगठित पूंजी की ताकत और लड़खड़ाती श्रमिक चेतना के बीच अपनी जंग में शम्भु प्रसाद सिंह एक हिंसक अंत का शिकार होता है- एक सड़क हादसा। अब भी एक संदेह बचा रहता है कि वह हादसा था कोई साजिश। फिल्म उसके बच्चों और बीवी के बारे में आगे कुछ नहीं बताती। दर्शक मान लेता है कि वे अपने गांव लौट गए होंगे और सबसे दूर छुपकर अपने जख्मों को सहला रहे होंगे।

इस किस्म की फिल्म को देखकर सिज़ेयर जवातिनी संतुष्ट लेकिन परेशान होते, जिनके सिनेमा, समाज और सियासत के बारे में विचारों ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इटैलियन सिनेमा में नवयथार्थवाद को जन्म दिया था। जवातिनी के कहे ये शब्द यहां याद आते हैं, "मैं रोजमर्रा की जिंदगी के वास्तविक नायक से मिलना चाहता हूं। मैं देखना चाहता हूं कि उसकी गढ़न कैसी है। उसके पास मूछ है या नहीं, वह लंबा है या ठिगना। मैं उसकी आंखें देखना चाहता हूं और मैं उससे बात करना चाहता हूं।" रानू घोष ऐसे ही एक किरदार का हमारी आंखों के सामने जीवंत कर देती हैं जो "रोजमर्रा की जिंदगी का वास्तविक नायक है"। वे हमारा उससे संवाद संभव बनाती हैं, उसके अतीत और वर्तमान में हमें ले जाती हैं और शायद उसके अनुभवों के आईने में हमें बड़ी पूंजी के हमले के आलोक में अपना भविष्य देख पाने में समर्थ बनाती हैं- हम, जो रोजमर्रा की जिंदगी में अपने दिलो दिमाग, संवेदना, ताकत और चेतना के मामले में शम्भु प्रसाद सिंह से भी कमतर नायक हैं।

घोष इस नायक के तात्कालिक और विस्तारित परिवार से भी हमारा साक्षात्कार कराती हैं, जो उस ज़रूरी प्रेम और समझदारी से हमारा परिचय करवाता है जहां से शम्भु की निर्भीकता को ताकत मिलती थी। दो कमरे और एक बालकनी की संकरी सी जगह में वे हमें ले जाती हैं जहां हम एक उभरते हुए कलाकार को अपने हाथों में एक ऐसा खिलौना लिए देखते हैं जो शायद उसने पहले कभी देखा तक नहीं था, चलाना तो दूर की बात रही। क्या यह मुमकिन है कि हमारे इस नायक ने कभी कल्पना की रही हो कि एक दिन

यह दुनिया उसी अजीब खिलौने से उसके दर्ज किए श्वेत-श्याम दृश्यों के माध्यम से उसे पहचानेगी या बेहतर जान सकेगी?

(साभार: समयांतर)